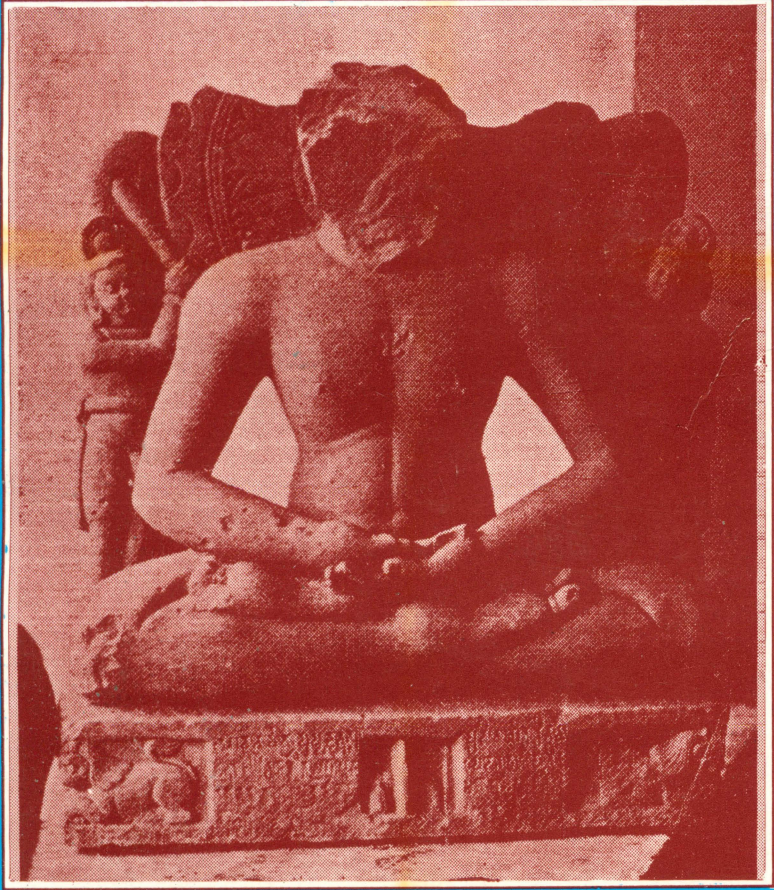


कहाऊँ स्तम्भ
एवं
क्षेत्रीय पुरातत्व की खोज



लेखक
सत्येन्द्र मोहन जैन

कहाऊँ स्तम्भ
एवं
क्षेत्रीय पुरातत्व की खोज

लेखक

सत्येन्द्र मोहन जैन

बी.एस.सी., बी.इ., एम.इ.

फैलो युनाइटेड राईटरस एसोसियेशन

अवकाश प्राप्त, अधिशासी अभियन्ता,

उ.प्र., लोक निर्माण विभाग;

वास्तुशास्त्री

© प्रथम संस्करण
सत्येन्द्र मोहन जैन

दिनांक :

वीर निर्वाण संवत्- २४३३, कार्तिक कृष्णा, ३०
श्री महावीर स्वामी निर्वाण दिवस
२२ अक्टूबर, ईस्वी सन् २००६

प्रकाशक

इद्रानी जैन

एम.ए. बी.एड.

बी. ३२/१२, नरिया, वाराणसी

पिन-२२१००५

मोबाइल-९४१५३-००९७१

मूल्य रु० १००/-

ॐ ह्रीं श्री
पुष्पदन्तश्वामिने
नमः

प्राक्कथन

कहाऊँ ग्राम परगना सलेमपुर से ५ कि.मी. दूर देवरिया जिले में है। यह स्थान दिगम्बर जैन तीर्थ है। इस स्थान पर नौवें तीर्थंकर श्री पुष्पदन्त स्वामी की दीक्षा सम्पन्न हुई एवं केवलज्ञान हुआ। खुखुन्दों ग्राम जहाँ श्री पुष्पदन्त स्वामी का गर्भ एवं जन्म हुआ वह स्थान यहाँ से १६ कि.मी. दूर है। खुखुन्दों ही पुरानी काकन्दी नगरी है।

कहाऊँ ग्राम में पुरातात्विक अवशेष के रूप में केवल एक स्तम्भ शेष है जिस पर ईसा की पांचवीं शताब्दी का एक लेख है। यह स्तम्भ एक महत्त्वपूर्ण अवशेष है जिसने ई. सन् १८०७ में बुकनान से आज तक लब्ध-प्रतिष्ठित पुरातत्वविदों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस पुस्तक में इन पुरातत्वविदों के वर्णन को एकत्र कर प्रकाशित किया गया है एवं लेखक की टिप्पणी व निष्कर्ष दिये हैं।

स्तम्भ में अब एक लम्बवत् दरार पड़ गई है। ऊपर की चारों एवं नीचे की मूर्तियाँ गलकर चम्पड़ छोड़ दी हैं। इस स्तम्भ का उचित रख-रखाव आवश्यक है। इस अध्ययन का यह ध्येय है कि इस स्तम्भ को संरक्षित करने की सही दिशा मिल सके।

इस स्तम्भ का महत्त्व यों भी बढ़ जाता है क्योंकि दिगम्बर जैनों में स्तम्भ बनाने की परम्परा तो पुरानी है परन्तु जैन स्तम्भों का समग्र अध्ययन अभी नहीं हुआ है। अनुमान ऐसा है कि इससे पुराने भी कुछ स्तम्भों के प्रमाण मिलेंगे परन्तु संग्रहालयों में अथवा अपने स्थान से दूर कहीं अन्य स्थान पर लगाये गये होंगे। सम्भवतः यह सबसे पुराना दिगम्बर जैन स्तम्भ है जो अपने मूल स्थान पर खड़ा है।

इस ग्राम से १६ कि.मी. पर पुरानी नगरी 'काकन्दी' के अवशेष हैं। वहाँ भी पुराने जैन अवशेष हैं जिन पर १९वीं शताब्दी के अंत में एक जैन मन्दिर बनाया गया है। यहाँ गुप्तकाल की एक मनोज्ञ जैन प्रतिमा विराजमान की गई थी, जो भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। यह प्रतिमा सुरक्षा के अभाव में अभी कुछ समय पूर्व चोरी हो गई। वहाँ का विस्तृत पुरातात्विक अन्वेषण हो तो जैन इतिहास के कुछ रहस्य प्रगट होंगे।

यह पुस्तक इस क्षेत्र के विस्तृत अध्ययन के लिए आधार रूप है। अभी बहुत खोज करनी शेष है, जैसे राजस्व-अभिलेख एवं गजेटियर इतिहास की कुछ सूचनायें छिपाये होंगे जो हमने नहीं खोजी। आचार्य गुणधर्म (ई. १२३०) की रचना 'पुष्पदन्त पुराण' का अध्ययन भी नहीं किया जा सका है। उन्होंने पुष्पदन्त स्वामी के दीक्षा एवं केवलज्ञान स्थल के विषय में क्या लिखा है? 'टैस्ट-पिट' बनाना एवं वास्तविक खुदाई का कार्य यहाँ अभी तक नहीं हुआ। आसपास के स्थलों-खुखुन्दों, पड़रौना आदि पर भी पुरातात्विक अन्वेषण नाम मात्र को ही हुआ है। अन्य जैन स्तम्भों का अलग से कोई अध्ययन नहीं हुआ जो इस स्तम्भ के महत्त्व को रेखांकित करे।

प्रोफेसर महेश्वरी प्रसाद ऑनरेरी डायरेक्टर पार्श्वनाथ विद्यापीठ करौंदी, वाराणसी, उन्होंने मूल प्रति देखकर मूल्यवान सुझाव दिये; डॉ० मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी प्रोफेसर कला का इतिहास, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, जो जैन मूर्ति विज्ञान के अनन्य विद्वान हैं, जिनकी छत्रछाया में डॉ० आनंद कुमार श्रीवास्तव ने इस खोज कार्य के कुछ अंश किये; डॉ० बी.आर. मणि डायरेक्टर इन्स्टीट्यूट ऑफ/आर्केयोलॉजी, जिन्होंने संदर्भ खोजने में मेरी मदद की; श्री निर्मल कुमार जैन अध्यक्ष, भारतवर्षीय जैन महासभा, लखनऊ, जिन्होंने छपाई एवं खोज में सहयोग प्रदान किया; श्री पुखराज जैन अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन पावानगर सिद्ध क्षेत्र समिति, गोरखपुर; डॉ० अभयकुमार जैन, श्री बलवीर सिंह जैन गोरखपुर; शिव प्रताप कुशवाहा कहाऊँ ने हमारी मदद की एवं अन्य सब महानुभावों का जिनका नाम स्थानाभाव से न लिखा जा सका, मैं सबका आभारी हूँ एवं धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ।

पुस्तक के जिल्द के पृष्ठ पर पुष्पदन्त स्वामी की चौथी सदी की मूर्ति की फोटो है जो प्रोफेसर रोजरफील्ड के सौजन्य से श्री आर.सी. अग्रवाल ने 'ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट ऑफ बड़ोदा' की १८वीं जिल्द (१९६८) में छापी है। यह मूर्ति मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी की पुस्तक 'जैन प्रतिमाविज्ञान' पृ० १०४ के अनुसार श्री पुष्पदन्त स्वामी की प्राचीनतम प्रतिमा है। यह मूर्ति इस स्तम्भ से पूर्व की है।

सत्येन्द्र मोहन जैन

बी.एस.सी. बी.ई., एम.ई., एफ.यू.डब्ल्यू.ए.आई.

बी.३२/१२ नरिया, वाराणसी।

विषय-सूची

क्र.सं.	विवरण	पृष्ठ सं०
	प्राक्कथन	४
	विषय-सूची	६
	परिशिष्टों की सूची	७
	चित्रों का विवरण	८
१.	अंचल का महत्त्व	९
२.	ग्राम का नाम	९
३.	पुरातात्विक खोजों का वर्णन	११
४.	शिलालेख का अध्ययन	११
५.	मानस्तम्भ का चित्र	१२
६.	स्तम्भ की ऊँचाई	१३
७.	पञ्चेन्द्राँ	१६
८.	स्तम्भ के शीर्ष पर खूँटी	१९
९.	स्तम्भ के निर्माता	२१
१०.	स्तम्भ के आस-पास का पुरातत्त्व	२२
	(१) स्तम्भ का चौक	२२
	(२) स्तम्भ के पास का मंदिर	२३
	(३) तालाब	२३
	(४) स्तम्भ के समक्ष मंदिर	२४
	(५) मंदिर के पास स्तूप	२५
११.	निष्कर्ष	२५

परिशिष्टों की सूची

क्र.सं.	विवरण	पृष्ठ सं०
१.	ईस्टर्न इण्डिया, २ (१८३८), पृ. ३६६-३६७, फिगर-२	२७
२.	जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, ७ (१८३८), पृ. ३३-३४ एवं ३६ - ३९ प्लेट-१	३०
३.	दी भिलसा टोपस, (१८५४), पृ. १३८-३९, १४१-४२, १४४	३७
४.	आक्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १ (१८७१), पृ. ९१ - ९५, प्लेट २८, २९, ३०	३९
५.	इण्डियन एण्टीक्वेरी, १०(१८८१), पृ. १२५ - १२६, प्लेट १	४५
६.	आक्यालाजिकल सर्वे रिपोर्टस, १६ (१८८०-८३), पृ. १२९-३०	५१
७.	कार्पस इन्स्क्रिप्शनम्, ३ (१८८८), पृ. ६५-६८, प्लेट ९	५३
८.	सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, १(१९४२), पृ० ३०८-३१०	५९
९.	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २८(१९५२), पृ. २९८-३००	६१
१०.	जैन शिलालेख संग्रह, २(१९५२), पृ ५९	६४
११.	भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, १(१९७४), पृ. १७३-१७५, चित्र ६०	६५
१२.	इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ द अली गुप्त किंग्स, (१९८१), पृ. ३०५-३०८ प्लेट २९	६९
१३.	प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (गुप्तकाल ३१९-५४३ ई.), २ (१९९९), पृ १४६-१४७	७१
१४.	दी केव टैम्पलस ऑफ इण्डिया, (१८८०), पृ. ४९७, प्लेट ८०, ८१	७३
१५.	भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, १ (१९७४), चित्र ६७	७५
१६.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्चीटेक्चर २ (१८७६, तृतीय मुद्रण १९१०) पृ. ५६-५८	७६
१७.	तीर्थवंदना अप्रैल (२००१), पृ. ४-५	७९
१८.	जर्नल बाम्बे ब्राँच ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ७ (१८६३- ६४, १८६४-६५, १८६५-१८६६) पृ. २४६-४७	८२
१९.	जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ४३ (१८७४) पृ. ३६८-३७२	८४

चित्रों का विवरण

१. स्तम्भ के नीचे पार्श्वनाथ की मूर्ति ।
२. स्तम्भ के ऊपर पश्चिमी पहलू पर तीर्थकर मूर्ति ।
३. स्तम्भ के ऊपर पश्चिमी पहलू पर बनी मूर्ति का शीर्ष ।
४. स्तम्भ के ऊपर उत्तरी पहलू पर तीर्थकर मूर्ति ।
५. स्तम्भ के ऊपर पूर्वी पहलू पर तीर्थकर मूर्ति ।
६. स्तम्भ के ऊपर दक्षिणी पहलू पर तीर्थकर मूर्ति ।
७. स्तम्भ पर शिलालेख जो पूर्व-उत्तर, उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी पहलू पर है ।
८. स्तम्भ ।

१. अंचल का महत्त्व

भगवान् पुष्पदन्त जैनधर्म में नौवें तीर्थंकर हैं। इनकी दीक्षा ककुभवन में हुई एवं इन्हें केवलज्ञान भी इसी वन में हुआ। यही स्थान अब 'कहाऊँ' नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ जैनधर्म की परम्परा उच्छिन्न-सी हो गई है। केवल एक स्तम्भ मौजूद है जो पाँचवीं शताब्दी ई. का है। चारों तरफ खण्डहर एवं कुछ टूटी-फूटी जैन मूर्तियाँ अवश्य हैं। पास में खुखुन्दों ग्राम है जो पुराना काकन्दी नगर है। वहाँ भी काफी खण्डहर हैं व कुछ गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ जैन मन्दिर में देखी जा सकती हैं। काकन्दी भगवान् पुष्पदन्त के गर्भ एवं जन्म का स्थान है। इन खण्डहरों में इस क्षेत्र का इतिहास छिपा है जो प्रागैतिहासिक काल तक जाना चाहिये।

गुप्तकाल में अवश्य ही यहाँ पर जैनधर्म का वर्चस्व रहा है। तभी एक पाषाण का इतना सुन्दर स्तम्भ यहाँ विराजमान है। आर्वे, इस स्तम्भ के इतिहास का अध्ययन करके देखें कि इससे पहले व आगे इस क्षेत्र का धार्मिक स्वरूप क्या रहा होगा ?

२. ग्राम का नाम

(१) डॉ० फ्रांसिस बुकनान ने इस स्थान को १८०७ से १८१३ के बीच देखा। उन्होंने इस गाँव का नाम Kangho लिखा है।

(२) स्त्रियरटन जिन्होंने १८३७ में यह स्तम्भ देखा, ने इस गाँव का नाम Kuhaon बताया।

(३) जनरल कनिंघम ने १८६१-६२ में इस स्थान का भ्रमण किया एवं बताया कि लोग इस गाँव को Kahaon या Kahâwan कहते हैं। उन्होंने कहा बुकनान का Kangho, Kanhon से विकृत होकर बना है।

(४) भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने स्थान का नाम Kahâun वर्ष १८८१ में लिखा।

(५) गैरिक ने १८८०-८१ में गाँव का नाम Kahaon या Kahong बताया।

(६) जोन फेदफुल फ्लीट ने १८८८ में अपने लेख में इस गाँव का नाम Kahâun या Kahâwan छापा। फ्लीट अपने लेख में लिखते हैं कि इण्डियन एटलस की शीट १०३ में इस गाँव के नाम Kahaon, Kahaong, Kangho एवं

Kuhaons बताये हैं ।

इस प्रकार अंग्रेजी में पुरातत्त्वविदों द्वारा बताये नामों के निम्न शब्द विन्यास हुये- (1) Kangho, (2) Kanghon, (3) Kuhaon, (4) Kahaon, (5) Kahâwan, (6) Kahâwan, (7) Kahâun, (8) Kahâum, (9) Kahong, (10) Kahaong. हिन्दी में जैन शिलालेख संग्रह में नाम कहायूँ, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ में नाम कहाऊँ एवं सहारा इण्डिया में कहांव नाम लिखा है । हम इस पुस्तक में ग्राम का नाम कहाऊँ लिख रहे हैं ।

शिलालेख में प्रिसेप व कनिंघम ने ग्राम का नाम 'ककुभःरति' पढ़ा है । भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित एवं बाद के विद्वानों ने इस ग्राम का नाम 'ककुभः' पढ़ा । पण्डित बलभद्र, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ में हिन्दी विश्वकोष का संदर्भ देकर कहते हैं कि ककुभ का अर्थ है कुटज जाति के पुष्प, अर्जुन वृक्ष । उन्होंने इस जगह को 'ककुभ वन' बताया । कनिंघम ने भी ककुभरति से ककुभ, ककुभवन कहावन इस प्रकार नामों की उत्पत्ति दर्शाई है । 'रति' शब्द का अर्थ नालन्दा विशाल शब्द सागर (१९५०) पृष्ठ ११५७ में दिया है-जैन मतानुसार वह कर्म जिसका उदय होने से किसी रमणीक वस्तु से मन प्रसन्न होता है । इस प्रकार 'ककुभःरति' का अर्थ हुआ अर्जुन के वृक्षों का वन जिससे मन प्रसन्न हो ।

साहित्य में भगवान् पुष्पदन्त के दीक्षा एवं केवलज्ञान का वर्णन है । तिलोपपण्णति (ई. सन् ५४०-६०९) की गाथा ४/६५२ एवं ४/६८६ में यह वर्णन है । भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग १ (१९७४) पृष्ठ १७१ में इसे 'पुष्पक वन' पढ़ा गया है । जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग २ (१९७१) पृष्ठ ३८२-३८३ में इन गाथाओं में नाम 'पुष्प वन' पढ़ा गया है । महापुराण (ई. सन् ८००-८४८) में, जैसा जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के उपरोक्त संदर्भित पृष्ठों पर लिखा है दीक्षा का 'पुष्पक वन' एवं केवलज्ञान का 'पुष्प वन' नाम बताया है । पुष्पक शब्द का अर्थ संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ (१९७७) पृष्ठ ७२६ पर 'फूल', 'लोहे का प्याला' कहा है । आर.पी.एन. सिन्हा की पुस्तक 'अवर ट्रीज' भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित (१९७७) पृष्ठ ४७ पर अर्जुन वृक्ष का दूसरा नाम 'क्वीन्स फ्लावर' लिखा है एवं इसे अति सुन्दर वृक्षों में कहा गया है । डॉ० एम० एस० रन्धावा की पुस्तक 'फ्लावरिंग ट्रीज' नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित (१९९५) पृष्ठ ९३ पर अर्जुन के फूल को प्याले की शकल का बताया है । इस प्रकार इस स्थान का नाम 'ककुभःरति', 'ककुभ ग्राम', 'ककुभ वन', 'पुष्पक वन' एवं 'पुष्प वन' पर्यायवाची हुये ।

उपरोक्त दोनों पेड़ों की पुस्तकों में अर्जुन पेड़ के पुष्पित होने का समय अप्रैल से जून तक दिया है । भगवान् पुष्पदन्त स्वामी के दीक्षा का दिन पौष शुक्ला एकादशी

एवं केवलज्ञान का दिन कार्तिक शुक्ल तृतीया है। इस कारण इन दोनों समय पर यह पुष्प पुष्पित न होगा। पण्डित बलभद्र का यह अनुमान है कि अर्जुन का वृक्ष दीक्षा समय पुष्पित था (इस कारण नाम पुष्पक वन हुआ) ठीक नहीं लगता है।

३. पुरातात्विक खोजों का वर्णन

(१) सबसे पहले डॉ० फ्रान्सिस बुकनान (हमिल्टन) ने १८०७ से प्रारम्भ कर सात वर्षों तक 'प्रेसीडेन्सी ऑफ बंगाल' के पुरातत्व का सर्वेक्षण किया। यह रिपोर्ट उन्होंने १८१६ में 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भेजी। इस रिपोर्ट के अंशों को मोनटगुमरी मार्टिन ने 'ईस्टर्न इण्डिया' में १८३८ में छापे। इस पुस्तक के सम्बन्धित अंश परिशिष्ट-१ पर हैं।

(२) सन् १८३७ में श्री लिस्टन ने यह स्तम्भ देखा एवं इसका वर्णन प्रिंसेप को भेजा। उन्होंने इस शिलालेख का अनुवाद एवं श्री लिस्टन का यह पत्र 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की १८३८ की रिपोर्ट में छपा, जिसके सम्बन्धित अंश परिशिष्ट-२ पर हैं।

(३) जनरल कनिंघम ने १८६१-६२ में इस स्तम्भ को देखा एवं इसका वर्णन 'आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट', १ में छपा, जिसके सम्बन्धित अंश की प्रति परिशिष्ट-४ पर है। इससे पहले १८५४ में वे इस शिलालेख की विवेचना छाप चुके थे। देखें परिशिष्ट-३।

(४) सन् १८७३ में भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने स्तम्भ को देखा एवं बहाँ का वृत्तान्त एवं शिलालेख का अनुवाद 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' १८८१ में छपा, जिसके सम्बन्धित अंश परिशिष्ट-५ पर हैं।

(५) श्री एच.बी.डब्ल्यू. गेरिक ने यह स्तम्भ १८८०-८१ में देखा। उनका वृत्तान्त जनरल कनिंघम ने १८८०-८३ की रिपोर्ट में छपा जो परिशिष्ट-६ पर है।

(६) सन् १९७४ में पण्डित बलभद्र ने इस स्तम्भ को देखा व इसका वर्णन एवं फोटो 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ' प्रथम भाग में छपी, जो परिशिष्ट-६ पर है।

४. शिलालेख का अध्ययन

(१) सबसे पहले प्रिंसेप ने इस लेख का अनुवाद १८३८ में किया जो परिशिष्ट-२ पर है।

(२) जनरल कनिंघम में इस लेख के समय के विषय में अपने विचार १८५४ में 'दी भिलसा टोप्स' में छपे। इसकी प्रति परिशिष्ट-३ पर है।

(३) प्रोफेसर फ्रिट्ज़ एडवर्ड हाल ने १८५५, १८५९, १८६१ में इस लेख

की तिथि के विषय में अपने विचार छापे, जो 'जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', २४ (१८५५) पृ. ३८५ n-, 'जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी', ६ (१८६०) पृ० ५३०-, 'जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', ३०(१८६१) पृ. ३ n पर छापे। यह तीनों लेख यहाँ उपलब्ध नहीं हैं।

(४) जनरल कनिंघम ने 'आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट', १ (वर्ष १८६१-६२ की रिपोर्ट छपी १८७१) परिशिष्ट-४, में समय निर्धारण के क्रम को आगे बढ़ाया।

(५) डॉ० भाउ दाजी ने १८६४ में 'जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ एशियाटिक सोसाइटी', ८, पृ. २४६ पर स्तम्भ के निर्माण की तिथि पर अपने विचार रखे। इस लेख के कुछ अंश परिशिष्ट-१८ पर हैं।

(६) राजेन्द्र लाल मिश्रा ने 'जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसायटी' ४३ (१८७४) पृ० ३६८-३७२ पर शिलालेख के समय के विषय में विवेचना की, जो परिशिष्ट-१९ पर है।

(७) भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने 'इण्डियन एण्टीक्वेरी', १० (१८८१), पर अपने १८७३ में लिये गये इम्प्रेसन के आधार पर अनुवाद छापे, जो परिशिष्ट-५ पर है।

(८) जोन फेदफुल फ्लीट ने 'कार्पस इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम्', ३ (१९४२) में इस शिलालेख का अनुवाद छापे जो परिशिष्ट-८ पर है।

(९) दिनेशचन्द्र सरकार ने 'सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन', १ (१९४२) में यह लेख छापे जो परिशिष्ट-८ पर है।

(१०) राजबली पाण्डेय ने 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', २८ (१९५२) में इस शिलालेख के कुछ शब्दों की विवेचना कर पास में अन्य मंदिर होने की पुष्टि की। यह परिशिष्ट-९ पर है।

(११) 'जैन शिलालेख संग्रह' २ (१९५२) में भी इस शिलालेख को छापे गया। देखें परिशिष्ट-१०।

(१२) पं० बलभद्र जैन ने 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ' १ (१९७४) पर इस शिलालेख की विवेचना छापे, जो परिशिष्ट-११ पर है।

(१३) देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने 'इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ द अर्ली गुप्त किंग्स' (१९८१) में इस लेख का अंग्रेजी अनुवाद छापे है। देखें, परिशिष्ट-१२,।

(१४) परमेश्वरी लाल गुप्त ने प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, २ (१९९९) में शिलालेख का हिन्दी अनुवाद छापे है, जो परिशिष्ट-१३ पर है।

५. मानस्तम्भ का चित्र

सर्वप्रथम फ्रांसिस बुकनान ने सन् १८०७ से १८१३ के बीच स्तम्भ का एक खाका बनाया, जो परिशिष्ट-१, पर देखा जा सकता है। उन्होंने इस स्तम्भ के पास के मंदिर का खाका भी बनाया जो इस संदर्भ के बाद कहीं नहीं मिलता है। यह मंदिर कुछ समय बाद ध्वस्त हो गया था। बुकनान ने एक छोटा-सा खाका ग्राम का भी बनाया है।

सन् १८३७ में लिस्टन का बनाया स्तम्भ का खाका प्रिंसेप ने छापा, जो परिशिष्ट-२ पर देखा जा सकता है। एक खाका कनिंघम ने १८६१-१८६२ में बनाया जो सबसे अधिक स्पष्ट है। यह खाका परिशिष्ट-४ पर देखा जा सकता है। इस खाके में प्रत्येक भाग के नाप फुट-इंच में सफाई से लिखे हैं। साथ में एक खाका उस भूभाग का भी दिखाया गया है जहाँ यह स्तम्भ खड़ा है।

इस स्तम्भ की एक फोटो भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ में छपी है जो परिशिष्ट-६, पर देखी जा सकती है। अब इस लेख के साथ हम इस स्तम्भ की फोटो (देखें चित्र-८) एवं स्तम्भ के उकेरे पाँचों तीर्थकरों की फोटो (देखें चित्र १ एवं ३-६) जो वर्ष २००२-३ में इन्स्टैक की लखनऊ शाखा ने इस स्तम्भ की वैज्ञानिक सुरक्षा का कार्य करते हुये ली है, उनके सौजन्य से छाप रहे हैं।

इस पुस्तक में शिलालेख के पाँच लिथोग्राफ भी देखे जा सकते हैं—सर्वप्रथम बुकनान ने १८०७ से १८१३ के बीच बनाया जो परिशिष्ट-१ पर है। लिस्टन ने १८३७ या १८३८ में प्रिंसेप के कहने पर एक लिथोग्राफ बनाया जो परिशिष्ट-२ पर है। कनिंघम ने १८६१-६२ में इस स्तम्भ का लिथोग्राफ बनाया जो परिशिष्ट-४, पर है। डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने १८७३ में लिथोग्राफ तैयार किया जो परिशिष्ट-५ पर है। उपरोक्त भगवानलाल इन्द्रजी के लिथोग्राफ में एक दो शब्दों का संशोधन कनिंघम के लिथोग्राफ के आधार पर करते हुए जोन फेदफुल फ्लीट ने १८८८ में एक लिथोग्राफ तैयार किया जो परिशिष्ट-७ पर है। अब इस लेख की फोटो भी इस पुस्तक में छपी जा रही है जो २००२-०३ में इन्स्टैक द्वारा खींची गई। देखें चित्र-७।

६. स्तम्भ की ऊँचाई

(१) डॉ फ्रांसीस बुकनान ने १८०७ से १८१३ के बीच में इस स्तम्भ का निरीक्षण किया। उन्होंने बताया इसका बेस २२.१/२ इंच चौकोर एवं लगभग ४ फुट ऊँचा है। इस भाग में बनी मूर्ति के दोनों तरफ दो उपासक बने हैं।

(२) लिस्टन ने १८३७ में इस स्थान को देखा एवं ४ फुट ६ इंच तक चौकोर भाग बताया। उन्होंने बताया कि इस चौकोर भाग में उकेरी मूर्ति के दोनों तरफ दो उपासक स्त्रियाँ मूर्ति के चरणों की वंदना करते हुये दिखाई गई हैं।

(३) जनरल कनिंघम ने इस स्तम्भ का १८६१-६२ में निरीक्षण किया। उन्होंने नीचे के चौकोर भाग को ४.१/२ फुट ऊँचा एवं १ फुट १० इंच का चौकोर बताया। उन्होंने चौकोर भाग में बनी खड्गासन मूर्ति के एक तरफ एक पुरुष एवं दूसरी तरफ एक स्त्री दण्डवत् करते हुये पहचाना। स्तम्भ की कुल ऊँचाई उन्होंने २४ फुट ३ इंच बताई।

(४) भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित १८७३ में यहाँ आये। उन्होंने नीचे के चौकोर भाग में उकेरी खड्गासन मूर्ति के दोनों तरफ की मूर्तियों को दो स्त्री मूर्तियाँ लिखा है।

(५) भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (१९७४) में लिखा है—“जमीन से सवा दो फुट ऊपर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुट अवगाहना वाली प्रतिमा उसी पाषाण में उकेरी हुई है।...चरणों के दोनों ओर भक्त स्त्री-पुरुष हाथों में कलश लिये चरणों का प्रक्षालन कर रहे हैं।”

(६) यह स्तम्भ सन् २००१ में जब डॉ० ओ० पी० अग्रवाल एवं इस लेख के लेखक एवं अन्य ने देखा तो पक्के सीमेन्ट के फर्श से केवल १.१/२ फुट ऊपर पार्श्वनाथ स्वामीकी खड्गासन मूर्ति उकेरी हुई है एवं इस मूर्ति के चरण एवं चरणों के दोनों तरफ के उपासक की मूर्तियों ने चप्पड़ छोड़ दिये हैं। वहाँ गोरखपुर के जैन महानुभावों ने बताया कि लगभग १५ वर्ष पूर्व उन्होंने यह पक्का फर्श चहारदिवारी एवं जमीन को ऊँचा करने का कार्य किया है।

इस प्रकार सन् ४६० ई० में बने स्तम्भ के चौकोर भाग में उकेरी मूर्ति के चरण एवं उनके दोनों तरफ बने उपासक आतताई के आक्रमण से भी बचे रहे एवं प्रकृति से भी सन् १९७४ तक बचे रहे परन्तु पिछले सम्भवतः १५ वर्ष में ही विखण्डित हो गये। अवश्य ही स्तम्भ के ऊपर का वर्षा का पानी पक्के फर्श पर पड़ा व उसके छींटे लगातार मूर्ति के चरणों पर पड़े इस कारण यह क्षति हो गयी। मूर्ति एवं स्तम्भ की किसी भी सुरक्षा की योजना में यह आवश्यक है कि कुछ उपाय जैसे फर्श को नीचा करना ताकि वर्षा के छींटे इस मूर्ति पर न आवें, अथवा फर्श पर स्तम्भ के चारों तरफ ढाल अवश्य बना दिया जावे।

यह भी विचारना उचित है कि स्तम्भ के निर्माण के समय फर्श कितना नीचा था एवं स्तम्भ के चौकोर भाग की ऊँचाई कितनी थी। इस विषय में निम्न बिन्दु विचारणीय हैं—

(१) वर्ष २००१ में इस स्थल का निरीक्षण श्रीराम सिंह सचिव उत्तर प्रदेश शासन राष्ट्रीय एकीकरण विभाग एवं श्री मुक्त ज्ञानानन्द जी जो एक अनुपम मर्मज्ञ एवं वैष्णव सन्त हैं, ने किया। उनके समक्ष इस गांव के बाल, वृद्ध, सामाजिक कार्यकर्ता एवं जनता इकट्ठी हुई। उन्होंने अपने पूर्वजों के अनुभवों से बताया कि स्तम्भ इतना ऊँचा था कि हाथ ऊपर करके कठिनाई से पार्श्वनाथ स्वामी के चरण छू पाते थे। उनके पूर्वज इन पार्श्वनाथ मूर्ति के, केवल चरणों में सिंदूर लगाते थे। अब पूरी मूर्ति पर सिंदूर लेपते हैं।

(२) भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ में सम्भावना व्यक्ति की गई है कि सुल्तान अलाउद्दीन के सिपहसालार मलिक हब्बूस ने उस क्षेत्र का विनाश किया होगा जैसा कि उसने श्रावस्ती आदि निकटवर्ती तीर्थों को विनाश किया। वैसे भी इस क्षेत्र के इतिहास से यह स्पष्ट है कि किसी आततायी ने ही यहाँ विनाश किया। कनिंघम के अनुसार यह क्षेत्र १२०० x ४०० फुट के क्षेत्रफल में फैला था। इतिहास यह भी बताता है कि आक्रमणकर्ता केवल लुटेरे ही नहीं, मूर्ति भंजक भी थे। उन्होंने आस-पास के सभी मंदिर ध्वस्त कर दिये परन्तु स्तम्भ के चौकोर भाग की मूर्ति को एवं उनके चरणों में बनी मूर्तियों को नहीं तोड़ पाये। स्पष्ट है कि यह मूर्ति आदमी की ऊँचाई से ऊपर रही होगी।

(३) प्रिंसेप के अनुसार इस स्तम्भ के निर्माणकर्ता भट्टि परिवार के वे लोग हो सकते हैं जिन्होंने इलाहाबाद का स्तम्भ बनाया, जो गुप्त वंश में प्रमुख मंत्री के पद पर थे व काफी धनी व प्रभावशाली थे। अगर उनका सम्बन्ध इलाहाबाद के स्तम्भ के निर्माताओं से न भी हो तो भी स्पष्टतः स्तम्भ निर्माता मद्र अवश्य धनी, धर्मनिष्ठ एवं सुरुचिपूर्ण व्यक्ति होगा। वह अपने आराध्य देव पार्श्वनाथ को अवश्य ही बच्चों की पहुँच से ऊपर बैठायेगा।

(४) कनिंघम ने लिखा है कि यह टीला पास के खेतों से ६ फीट ऊँचा है। इस ६ फुट ऊँचाई में कुछ ऊँचाई यहाँ के मंदिरों एवं भवन के मलवों से बनी होगी। समझा जा सकता है कि खेतों से १ हाथ ऊँचाई पर मंदिरों एवं स्तम्भ की कुर्सी होगी व शेष साढ़े चार फुट मलवा। इस प्रकार उस स्तर से जो बुकनान एवं कनिंघम आदि पुरातत्वविदों ने देखा, लगभग ४.५ फुट नीचे स्तम्भ निर्माण के समय फर्श होगा।

(५) बुकनान से आज तक किसी भी पुरातत्वविद ने इस क्षेत्र की खुदाई नहीं की एवं 'टैस्टपिट' भी नहीं लगाया। 'टैस्टपिट' लगाकर गुप्तकाल के फर्श का स्तर सही-सही ज्ञात हो सकता है।

(६) कनिंघम ने स्तम्भ का नाप बड़े करीने से लिया एवं लिखा। उनके अनुकूल स्तम्भ का गोल भाग-३ फुट ३ इंच ऊँचा है। उसके नीचे १६ पहल का भाग

५ फुट ऊँचा है। उसके नीचे आठ पहल का भाग ६ फुट ३ इंच ऊँचा है। फिर चार पहलू वाला भाग केवल ४ फुट ऊँचा है। ऊपर के दोनों भागों के ऊँचाई के क्रम को आगे बढ़ाये तो चौकोर भाग लगभग ७ फुट ऊँचा होगा।

(७) स्तम्भ की चौड़ाई भी फर्श के पास लगभग २८" हो सकती है जो मौजूदा में केवल २२" है। जेमस फर्गुसन ने चुनार पत्थर के दूसरे स्तम्भों के अध्ययन के आधार पर लिखा है कि ऊँचाई एवं बेस पर मोटाई का अनुपात प्रायः १२ होता था। देखें, परिशिष्ट-१६। इस प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि चौकोर भाग दो हिस्सों में बना होगा—एक २८" चौड़ा जो मलवे में ढक गया व दूसरा २२" चौड़ा जो अब दीख रहा है।

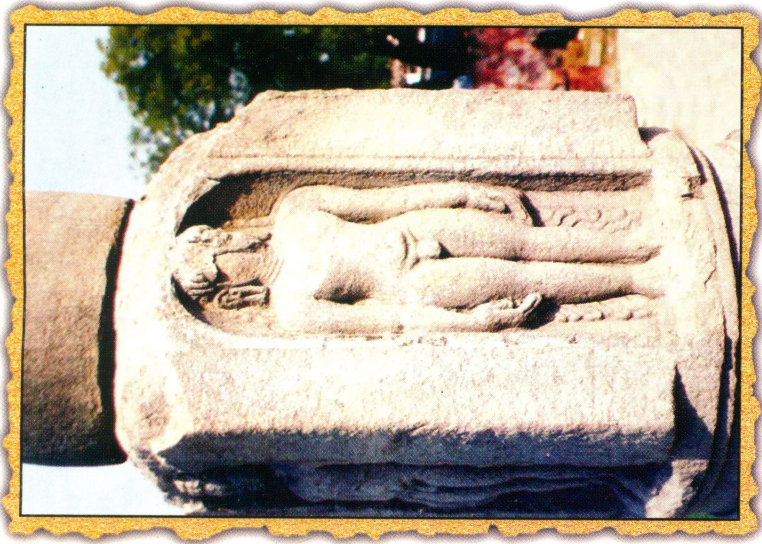
उपरोक्त सभी दृष्टि से चौकोर भाग लगभग ९ फुट ऊँचा होना चाहिए। यह ऊँचाई सुन्दरता, सुरक्षा एवं पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति की पवित्रता हेतु आवश्यक थी।

७. पञ्चेन्द्राँ

ईस्वी सन् १८८१ में भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने 'इण्डियन अन्टीक्वेरी' में, सर्वप्रथम स्तम्भ की पाँचों मूर्तियों को आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व व महावीर कहा है (देखें परिशिष्ट-५)। यह अनुमान ही बिना तर्क के विद्वान् लेखक चमन लाल जे. शाह ने अपनी पुस्तक 'जैनीज्म इन नार्थ इण्डिया' लन्दन, १९३२, पृ० २०९; प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने 'जैन प्रतिमा विज्ञान', वाराणसी, १९८१, पृ० ६९, एवं उसके बाद के सभी लेखकों ने जैसे परिशिष्ट ९, १०, ११, १३ एवं १७ पर देखा जा सकता है, लिखा है। इस विषय में मेरी असहमति के तर्क निम्न प्रकार हैं—

श्री भगवानलाल इन्द्र जी ने अपने लेख के अन्तिम पैरा में लिखा है कि 'जैन अपने तीर्थकरों को आदिकर्ता [लिपि पा० आदिकऋत्त्रिस्] कहते हैं'। आगे वे कहते हैं कि 'परन्तु उनमें से पाँच सुविख्यात हैं, उन्हें विशेष प्रिय हैं, जिनकी मूर्तियों को ही वो प्रायः अपने मंदिरों में स्थापित करते हैं। यह धारणा इन पाँच मूर्तियों के प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर नहीं बनाई गई है, न ही कोई अन्य प्रमाण दिया गया है। जैनधर्म के मंदिरों के विषय में उन्होंने जो विचार प्रकट किया है उस पर गहन अध्ययन आवश्यक है।

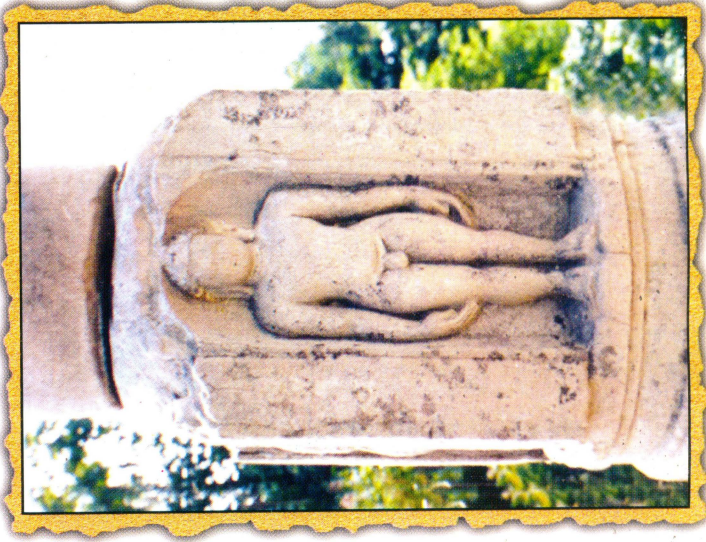
वास्तव में इस स्तम्भ के ऊपर एक सर्वतोभद्रिका जिन मूर्ति (जिन चौमुखी) विराजमान है। डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी की पुस्तक 'जैन प्रतिमा विज्ञान' १९८१, पृ० १४९ में लिखा है—'जिन चौमुखी प्रतिमाओं को मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसी मूर्तियाँ हैं जिनमें एक ही जिन की चार मूर्तियाँ



2. स्तम्भ के ऊपर पश्चिमी पहलू पर तीर्थंकर मूर्ति।



1. स्तम्भ के नीचे पार्श्वनाथ की मूर्ति।



4. स्तम्भ के ऊपर उत्तरी पहलू पर तीर्थंकर मूर्ति।



3. स्तम्भ के ऊपर पश्चिमी पहलू पर बनी मूर्ति का शीर्ष।



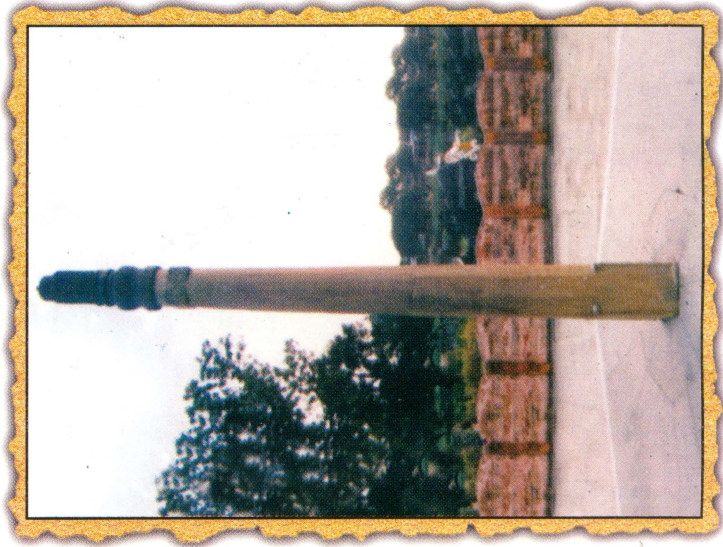
5. स्तम्भ के ऊपर पूर्वी पहलू पर तीर्थंकर मूर्ति।



6. स्तम्भ के ऊपर दक्षिणी पहलू पर तीर्थंकर मूर्ति।



7. स्तम्भ पर शिलालेख जो पूर्व-उत्तर, उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी पहलू पर है।



8. स्तम्भ।

उत्कीर्ण हैं। दूसरे वर्ग की मूर्तियों में चार अलग-अलग जिनों की मूर्तियाँ हैं। शिलालेख के पञ्चेन्द्र शब्द से स्पष्ट है कि यह दूसरे वर्ग की चौमुखी प्रतिमा है। गुप्तकाल की केवल दो और सर्वतोभद्र प्रतिमायें ज्ञात हैं। ये दोनों सर्वतोभद्र प्रतिमायें दूसरे वर्ग की ही हैं। एक सर्वतोभद्र मूर्ति का वर्णन डॉ० तिवारी अपनी पुस्तक के पृष्ठ-५० पर इस प्रकार करते हैं 'पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा (बी. ६८) में एक जिन चौमुखी भी सुरक्षित है। गुप्तकालीन जिन चौमुखी का यह अकेला उदाहरण है। कुषाणकालीन चौमुखी मूर्ति के समान ही यहाँ भी केवल ऋषभ एवं पार्श्व की ही पहचान सम्भव है।' स्पष्ट है कि शेष दो मूर्तियों की पहचान नहीं की जा सकती व कोई अनुमान भी वह विद्वान् लेखक नहीं लगा रहे हैं। एक अन्य गुप्तकालीन चौमुखी मूर्ति दिगम्बर जैन मंदिर भेलूपुर के संग्रहालय में रखी है। इसे प्रोफेसर सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ जन्म भूमि मन्दिर वाराणसी का पुरातात्विक वैभव' में चतुर्थ शताब्दी का बताया है। मैंने अपने लेख 'पार्श्वनाथ की जन्मस्थली के इतिहास पर कुछ और विचार' जो 'भारतीय संस्कृति और साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ', १९९९, वाराणसी पृ० ३८ पर छपा है में इस सर्वतोभद्र प्रतिमा को कुमार गुप्त के राज्य काल की माना है एवं इसमें लांछन के आधार पर ऋषभ, पार्श्व, मल्ली एवं पद्म प्रभु की मूर्तियाँ पहचानी हैं। डॉ० तिवारी की पुस्तक के पृष्ठ १४९ में पूर्वमध्ययुगीन मूर्तियों का वर्णन करते समय लिखा है—'बिहार बंगाल की चौमुखी मूर्तियों में सभी जिनों के साथ स्वतंत्र लांछनों का उत्कीर्णन विशेष लोकप्रिय था। अन्य क्षेत्रों में सामान्यतः कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों के समान केवल दो ही जिनों ऋषभ एवं पार्श्व की पहचान सम्भव है। चौमुखी मूर्तियों में ऋषभ और पार्श्व के अतिरिक्त अजित, सम्भव, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, नेमि, शान्ति और महावीर की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।' प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं डॉ० शान्तिस्वरूप सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'जैन कला तीर्थ देवगढ़' में पृ० ४१ पर लिखा है—'गुप्तकाल में केवल ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, पार्श्वनाथ एवं महावीर का ही निरूपण हुआ।' इस सूची में भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा बताये श्रा, शान्तिनाथ एवं श्री नेमिनाथ का नाम नहीं है।

जैन मूर्ति कला के विकास क्रम में पंचतीर्थी मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। एक १४५१ ई० की पंचतीर्थी प्रतीमा मधुबन तेरह पंथी दिगम्बर जैन मंदिर में सुरक्षित है, जिसे प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं डॉ० शान्तिस्वरूप सिन्हा ने अपने अप्रकाशित लेख दिनांक-१२.०७.२००५ में पद्मप्रभ, चंद्रप्रभ, अरनाथ, नेमिनाथ व पार्श्वनाथ पहचाने हैं। इसी प्रकार कुछ पंचतीर्थियों में पंचबालयतियों की मूर्तियाँ उकेरी जाती हैं। जिनमें—वासुपुज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर होते हैं।

भगवानलाल इन्द्र जी पण्डित ने यह भी कहा है कि इन्हीं पाँच सुविख्यात

तीर्थकरों की स्तुति जैनधर्म की पुस्तकों के आरम्भ में की जाती है। यह भी विवादास्पद है। श्री जैनेन्द्र वर्णी द्वारा रचित 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' जो भारतीय ज्ञानपीठ से १९८५ में छपी है, पृष्ठ १ पर यह ग्रंथ सरस्वती की वंदना से प्रारम्भ किया है। इन विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में जैन सिद्धान्त की विवेचना पाँच बृहद् भागों में की है। अगर कोई पाँच प्रमुख तीर्थकर होते एवं उनकी स्तुति की परिपाठी होती तो अवश्य ही इस ग्रंथ का प्रारम्भ उनकी स्तुति से होता। इसी प्रकार दिगम्बर जैन पूजा-पाठ की पुस्तकों में सबसे अधिक प्रचलित पुस्तक 'पूजन-पाठ-प्रदीप' का उदाहरण लें। इसके २६वें संस्करण, १९९६, पृ० १७ पर यह पुस्तक मंगलाष्टक स्तोत्र से प्रारम्भ की गई है। यह मंगलाष्टक स्तोत्र पंच परमेष्ठी की स्तुति है, न कि किन्ही पाँच प्रमुख तीर्थकरों की। मैं यहाँ भी बता दूँ, यह स्तम्भ दिगम्बर है।

इस प्रकार भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा बताये 'पाँच सुविख्यात जिनो' की धारणा एवं अंकन सिद्ध नहीं होता। मेरी धारणा है मद्र ने स्तम्भ के पश्चिमी पंहुलू पर श्री पार्श्वनाथ के ऊपर श्री आदिनाथ स्वामी को उकेरा है जिनकी पहचान उनकी जटा से की जा सकती है। देखें चित्र - २ व ३। शेष तीन कोन तीर्थकर ऊपर स्थापित किये जात नहीं हैं, परन्तु पुष्पदन्त भगवान का तीर्थ होने से उनकी मूर्ति भी इन तीन में है। भगवान पुष्पदन्त की मूर्ति इस स्तम्भ के निर्माण से एक सदी पूर्व विदिशा में स्थापित हो चुकी थी जिसका, चित्र पुस्तक की जिल्द पर है एवं वर्णन प्राक्कथन में है।

इन पञ्चेद्रों के बारे में दूसरा मत राजबली पाण्डेय का है कि ये पाँच मूर्तियाँ स्तम्भ के सामने बने हुए मन्दिर में थीं।

राजबली पाण्डेय का मत है कि-(१) स्थापयित्वा शब्द का अर्थ है-विधि पूर्वक मूर्ति की स्थापना; (२) 'धरणिधरमयान' शब्द का अर्थ है पाषाण द्वारा निर्मित जो पाषाण पर उकेरी इन मूर्तियों के लिये प्रयुक्त नहीं होगा; (३) पाण्डेय जी ने वहाँ पास ही कुछ जैन मूर्तियों के अवशेष देखे एवं उन्होंने अनुमान लगाये वे अवशेष उन पाँच मूर्तियों के हैं जो मद्र ने स्तम्भ के सामने के मंदिर में स्थापित की होंगी; (४) मंदिर के सामने के स्तम्भ पर मंदिर की मूर्तियों का प्रतीक स्थापित होता है। इस प्रकार के स्तम्भ की उकेरी शक्तें मंदिर की मूर्तियों के प्रतीक हैं।

इस विषय में मुझे कहना है कि (१) जैनधर्म में स्तम्भ एवं उसमें स्थापित अथवा उकेरी मूर्तियों में देवत्व की स्थापना पूजा, विधि-विधान से की जाती है; (२) मंदिरों में भी शिलापट जिनमें मूर्तियाँ उकेरी गई हों स्थापित किये जाते हैं। उनकी स्थापना एवं तदन्तर पूजा-अर्चना का विधान वही है जो तीनों दिशाओं में तराशी मूर्ति का होता है। इस प्रकार 'धरणिधरमयान' शब्द का अर्थ संकुचित नहीं किया जा सकता; (३) मद्र ने कोई मन्दिर निर्माण नहीं किया अन्यथा उस मंदिर का उल्लेख इस

शिलालेख में होता। स्तम्भ स्थापना जैसा विशाल एवं उस समय को देखते हुए बिरला कार्य करनेवाला मद्र दूसरे के मंदिर में अपनी मूर्तियाँ क्यों स्थापित करेगा; (४) ऐसी कोई परिपाटी जैनधर्म में नहीं है कि जितनी व जिन भगवानों की मूर्ति मंदिर में स्थापित हों उतनी या उन भगवानों की मूर्ति ही स्तम्भ पर स्थापित हों। मंदिर में स्थापित मूर्तियों का प्रतीक या चिह्न स्तम्भ पर बनाने की परिपाटी भी जैनधर्म में नहीं है। बोध प्रतीक स्वरूप हंस अथवा शेर एवं शैव त्रिशूल अवश्य स्थापित करते हैं। देखें परिशिष्ट-८। इन कारणों से मैं राजबली पाण्डेय के मत से असहमति प्रगट करते हुये कहना चाहता हूँ स्तम्भ की पाँच मूर्तियों का ही वर्णन स्तम्भ लेख में है। मन्दिर अवश्य स्तम्भ से पूर्व यहाँ मौजूद होगा। पास के दो मंदिर बुकनान ने देखे। हो सकता है वहाँ कई मंदिर हों। स्तम्भ के समक्ष अवश्य एक विशाल मंदिर होगा तभी इतना विशाल मानस्तम्भ बनवाया गया। उन मन्दिरों में से कुछ के अवशेष श्री पाण्डेय ने देखे। श्री राजबली पाण्डेय के बाद के लेखक-पण्डित बलभद्र, भण्डारकर एवं परमेश्वरी लाल-भी स्तम्भ की पाँच मूर्ति ही स्तम्भ में वर्णित पञ्चेद्रां मानते हैं।

इस विषय में एक अन्य भ्रान्ति 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ' के भाग-१ चित्र ६० पर इस स्तम्भ के फोटो में है जिसके शीर्षक में लिखा है कि इस मानस्तम्भ के शीर्ष पर आठ जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। वास्तव में शीर्ष पर चार एवं कुल पाँच प्रतिमायें ही स्तम्भ में विराजमान हैं। पण्डित बलभद्र स्वयं स्तम्भ के विवरण में ५ प्रतिमायें ही बताये हैं। इस प्रकार पुस्तक में चित्र के शीर्षक पर गलती से आठ की संख्या लिखी गई है।

स्तम्भ के शीर्ष के चार तीर्थकरों की फोटो जो २००२ में भारतीय संरक्षण संस्थान की लखनऊ शाखा ने स्तम्भ के संरक्षण के समय लीं, वे उनके सौजन्य से संलग्न हैं—देखें चित्र २ से ६। स्तम्भ के नीचे पार्श्वनाथ की मूर्ति की फोटो चित्र १ पर है। यह भी इन्हीं के सौजन्य से है।

८. स्तम्भ के शीर्ष पर खूँटी

(१) प्रारम्भ में डॉ० फ्रांसिस बुकनान ने लिखा है कि एक बड़ा खूँटा जो किसी धातु का दिखता है, स्तम्भ के ऊपर ठोका हुआ है। आगे उन्होंने कहा कि सम्भवतः इस खूँटे पर इसी धातु का कोई भाग सुशोभित था।

(२) प्रिंसेप ने लिखा है कि सबसे ऊपर, धातु का एक खूँटा है जिस पर अधिकतम सम्भावना है कि एक शेर बैठाया गया होगा जो बाद में नष्ट हो गया होगा। उसका कोई टुकड़ा भी सबूत के लिये शेष न रहा।

(३) कनिंघम ने कहा है कि खूँटे से स्पष्ट है कि स्तम्भ के ऊपर शेर अथवा

कोई अन्य पशु अपने उग्र रूप में प्रदर्शित किया गया होगा जिसकी ऊँचाई २.१/२ फुट से ३ फुट से अधिक नहीं रही होगी ।

(४) भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने लिखा है कि ६ इंच ऊँचा लोहे का खूँटा स्तम्भ के शीर्ष पर गोल भाग में गड़ा है जिस पर कोई जैन धार्मिक प्रतीक लगाया गया होगा । उन्होंने एलोरा की इन्द्रसभा में बने सुन्दर एक पत्थर के स्तम्भ की तुलना इस स्तम्भ से की है । इन्द्रसभा के इस स्तम्भ के शीर्ष पर चौमुखी चार जिनों की मूर्ति बनी है । उन्होंने आगे कहा है कि इसी प्रकार बौद्ध अपने स्तम्भ शीर्ष पर एक या चार शेर बैठाते हैं एव शैव त्रिशूल स्थापित करते हैं । इन्द्रसभा के इस स्तम्भ का चित्र, इन्द्रसभा का प्लान एवं संक्षिप्त विवरण, स्पष्टता हेतु परिशिष्ट-१४ पर दर्शाया है । यह विवरण जेम्स फरग्युसन एवं जेम्स बर्गीज की 'केव टैम्पिलस ऑफ इण्डिया' जो १८८० में प्रथम बार छपी व १९९९ में दिल्ली से पुनः मुद्रित हुई, से लिया गया है । इन विद्वान् लेखकों ने एलोरा का यह स्तम्भ ८वीं शताब्दी का बताया है । भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने 'कहाऊँ' के इस स्तम्भ के 'कैपिटल' को 'पैरीपोलीटियन टाइप' का कहा है एवं जेम्स फरग्युसन की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एवं ईस्टर्न आर्किटेक्चर' का संदर्भ दिया है । मैं इस पुस्तक के संदर्भ को सुलभता हेतु परिशिष्ट संख्या-१६ पर संलग्न कर रहा हूँ । यह अध्ययन विशेष रूप से अशोक स्तम्भ एवं उसके बाद के बुद्ध स्तम्भों से सम्बन्धित है । जैनस्तम्भों के अलग से अध्ययन की आवश्यकता इस प्रकार प्रतीत होती है ।

(५) जोन फेदफुल फ्लीट का कहना है कि स्तम्भ के शीर्ष पर एक खूँटा है । इस खूँटे पर लगी अटारी ध्वस्त हो चुकी है ।

(६) राजबली पाण्डेय का कहना है कि स्तम्भ के शीर्ष पर कोई जैनधर्म का प्रतीक चिन्ह होगा जो अब ध्वस्त हो चुका है ।

(७) जैसा मैंने स्तम्भ की ऊँचाई के शीर्षक में लिखा है वर्ष २००१ में 'कहाऊँ' में निर्मित नये जैन मंदिर में अतिथियों के समक्ष ग्रामवासी एकत्र हुये थे । उन्होंने बताया कि इस स्तम्भ के ऊपर सोने का कलश था, जो किसी ने ऊपर चढ़कर चोरी की नियत से उतार लिया व वो चोर उसे लेकर भागना चाहा परन्तु स्तम्भ के समीप के कुयें में गिरकर मर गया । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कनिष्क ने अपनी रिपोर्ट १८६१-६२ में लिखा है कि स्तम्भ के दक्षिण-पूर्व में एक पुराना कुआँ था जो कुछ समय पूर्व भरा गया था । यह कुआँ १८०७-१३ में बुकनान ने देखा था ।

उपरोक्त पुरातत्ववादियों में प्रिसेप एवं कनिष्क ने ऊपर शेर अथवा अन्य कोई पशु होने की सम्भावना बताई है । पुनः आततायी आक्रमण से यहाँ विध्वंस हुआ । वे लोग लुटेरे एवं मूर्ति भंजक थे । उन्होंने ऊपर का पशु तोड़कर गिरा दिया एवं मूर्तियाँ

तोड़कर नहीं गिराई ऐसा युक्तिसंगत नहीं है। पुनः जैन कला में पशु तीर्थंकर के चरणों में प्रदर्शित होते हैं। चौमुखी प्रतिमा के ऊपर पशु का होना युक्तिसंगत नहीं है।

प्लीट का कहना है कि स्तंभ के ऊपर अटारी या बुर्ज होगा जबकि डॉ० फ्रांसिस बुकनान कहते हैं कि स्तंभ के ऊपर खूँटे की ही धातु का कोई भाग सुशोभित होगा। पुनः श्री परमेश्वरी लाल गुप्ता का शिलालेख का जो अनुवाद परिशिष्ट-१३, पर है उसमें लिखा है 'स्तम्भ जो हिमालय की चोटी की तरह दिखाई देता है'। यहाँ चोटी से तात्पर्य शिखर से ही हो सकता है। चोटी शेर अथवा किसी अन्य चिह्न में नहीं बन सकती। इन दोनों राय को अनुश्रुति से जोड़ें तो स्तम्भ के ऊपर धातु का आमलक एवं कलश बना होगा जो सोने का होगा या उस पर सोने का पतरा चढ़ा होगा। इस प्रकार के स्तम्भ की फोटो 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ', १ चित्र ६७ पर है जिसमें इसी प्रकार खड्गासन मूर्तियों के चौमुखे के ठीक ऊपर आमलक एवं कलश दिखाया गया है। इस फोटो में दर्शाया गया स्तम्भ देवगढ़ में है। इस फोटो की प्रति परिशिष्ट-१५ पर है।

इस फोटो में आमलक एवं कलश पाषाण में बनाया गया है। मद्र ने 'कहाऊँ के इस स्तम्भ में यह धातु का बना कर सोने का पतरा चढ़ाया होगा। इस धातु के बर्तन के अन्दर चूने इत्यादि का मसाला लगा होगा एवं इस सबको रोकने हेतु यह खूँटी लगी होगी। स्तम्भ के चौमुखे की चौड़ाई एवं देवगढ़ के स्तम्भ के चौमुखे की चौड़ाई का अनुपात देख कर कलश की ऊँचाई इसी अनुपात से निकालें तो लगता है कि सबसे उपर ४.१/२ इंच ऊँचाई में आमलक होगा व लगभग १.१/२ फुट ऊँचाई के कलश के तीन बर्तन होंगे। जनरल कनिंघम ने इस खूँटे के सहारे लगे हुए प्रतीक की ऊँचाई २.१/२ या ३ फीट से कम बताई है परन्तु उपरोक्त देवगढ़ के उदाहरण से यह माप केवल दो फुट ही उचित लगती है।

उपरोक्त विवेचन से इस खूँटे पर कलश होने की सम्भावना ही प्रबल होती है। उपरोक्त जनश्रुति के आधार पर बराबर के बंद कुर्ये को खोद कर देखना भी उचित है। अब स्तम्भ के शीर्ष पर कलश निर्माण करने की सम्भावना को भी खोजा जाना चाहिये।

९. स्तम्भ के निर्माता

डॉ० बुकनान के अनुसार कुछ लोग इसे परशुराम द्वारा निर्मित एवं कुछ भीम द्वारा निर्मित बताते हैं। कुछ लोग इसे लठ कहते हैं। कुछ कहते हैं कि कुछ भी ज्ञात नहीं है कि किसने इसे बनाया। विशालकाय एक पत्थर बाहर से लाकर खड़ा करना बड़ा महान हिम्मत का कार्य है। इस कारण परशुराम जो भारत में महान योद्धा माने

जाते हैं एवं भीम जो अप्रतिम शक्ति के धारक माने जाते हैं, का नाम इस स्तम्भ से जोड़ा गया। बुकनान इस पर निर्मित लेख नहीं पढ़ पाये इस कारण वे अनुश्रुति पर ही निर्भर रहे। इस प्रकार अनुश्रुति, निर्माता के विषय में मौन है।

स्तम्भ का पहला अनुवाद प्रिंसेप ने किया, जिन्होंने लिखा 'अमिला के पुत्र भट्टि सोम के पुत्र रुद्र सोम (व्याघ्ररती) के पुत्र मद्र, जो हमेशा ब्राह्मणों, गुरुओं एवं यतियों के मित्र रहे, ने इस स्तम्भ को बनाया'।

जो अनुवाद भण्डारकर ने 'इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ अर्ली गुप्त किंग्स' में प्रस्तुत किया, उसमें भी है कि सोमिल के पुत्र भट्टि सोम के पुत्र रुद्र सोम (व्याघ्र उपनाम) के पुत्र मद्र जो ब्राह्मणों, धर्मगुरुओं और साधुओं के प्रिय थे, ने यह स्तम्भ बनाया।

परमेश्वरी लाल गुप्त ने हिन्दी में अनुवाद किया है—सोमिल के पुत्र भट्टि सोम के पुत्र रुद्र सोम (व्याघ्र) के पुत्र मद्र जो ब्राह्मणों, गुरुजनों और साधु-संतों के प्रति श्रद्धा भाव रखता था, ने इस स्तम्भ को बनवाया।

प्रिंसेप ने भट्टि नाम से इलाहाबाद के स्तम्भ का संबन्ध जोड़ते हुए कहा है कि सम्भवतः यह वही भट्टि हों, जिन्होंने इलाहाबाद का स्तम्भ टीला भट्टि बनवाया या उनके परिवार के हों। यह परिवार चीफ मजिस्ट्रेट था एवं बहुत शक्तिशाली हो गया था व धनाढ्य भी था।

भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ में मद्र को ब्राह्मण कहा है वह तदनु रूप ही स्तम्भ के पूर्व दिशा में नई बनी दीवार-जो लगभग सन् १९८६ में बनी है—में अंकित लेख में मद्र को ब्राह्मण कहा गया है। ब्राह्मण भी जैनधर्म को मानते थे व अब भी कुछ ब्राह्मण जैनधर्म मानते हैं। इस प्रकार मद्र ब्राह्मण हो तो आश्चर्य नहीं है।

१०. स्तम्भ के आस-पास का पुरातत्व

(१) स्तम्भ का चौक—फ्रांसिस बुकनान ने लिखा है कि यह स्तम्भ एक आयताकार क्षेत्र में खड़ा है जो ईंटों की दीवार से घिरा है एवं सम्भवतः कुछ छोटी-छोटी कोठरियाँ भी बनी हैं। इस चौक में एक कुआँ भी बना है।

लिस्टन ने लिखा है कि यह स्तम्भ आम के पेड़ के छोटे से झुरमुट में खड़ा है एवं पास में एक आम का पेड़ है।

जनरल कनिंघम ने उत्तर-पूर्व दिशा में एक पुराने कुएँ के चिह्न देखे जो कुआँ भरा जा चुका था। इन्होंने स्तम्भ के उत्तर में स्तम्भ के पास ही कुछ ढेर देखे जिसमें कुछ भवन के खण्डहर दिखे।

इससे विदित है कि यहाँ खण्डहर न केवल किसी आतताई ने किया अपितु जो आतताई से बचा वह पिछले दो सौ वर्ष में प्राकृतिक ताकतों एवं मनुष्यों की क्रियाओं

से समाप्त हो गया ।

पण्डित बलभद्र ने इस स्तम्भ की फोटो दिखाई है जिसमें स्तम्भ के सामने दरवाजे पर एक खम्भा एवं पीछे आम के बगीचे का झुरमुट दिखाई दे रहा है । यह खम्भा फर्श बनाते समय हटाया गया होगा । अब सन् २००१ में वहाँ फर्श बाउण्ड्री-वाल व लोहे का दरवाजा पश्चिममुखी था । यह दीवार भी जगह-जगह खराब हो रही थी ।

(२) स्तम्भ के पास मन्दिर—बुकनान ने करनाई नाम के तालाब के पास एक ईंटों से बना मन्दिर देखा जिसमें दो खण्ड थे एवं ऊपर में गुम्बज था । इसका चित्र भी इन्होंने बनाया । ऊपर के खण्ड में कोई मूर्ति नहीं थी व नीचे के खन में एक खड्गासन खण्डित मूर्ति देखी एवं एक और मूर्ति देखी जो अत्यधिक बिगड़ चुकी थी एवं किसी चौपाये की लग रही थी ।

लिस्टन ने इस मन्दिर का कोई वर्णन नहीं किया ।

जनरल कनिंघम ने लिखा है कि यह मन्दिर उस समय मौजूद नहीं था । उनके बताये अनुकूल लिस्टन ने भी इसका वर्णन नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि लिस्टन के समय से पूर्व ही यह टूट चुका था । कनिंघम ने खुदाई से ज्ञात किया कि इस मन्दिर का नाप अन्दर-अन्दर ९' x ९' था, दीवारें १' - ९' मोटी थीं । इस प्रकार बाहर-बाहर नाप १२' - ६" x १२' - ६" हुआ । बुकनान के बनाये चित्र पर यह नाप लगाने से मन्दिर की ऊँचाई ३०' निकाली, कनिंघम ने । दक्षिण के ध्वस्त मन्दिर के ढेर पर कनिंघम ने एक आदम कद खड्गासन मूर्ति देखी ।

पण्डित बलभद्र ने इस मन्दिर का वर्णन इस प्रकार किया है—एक टूटे-फूटे कमरे में जिस पर छत नहीं है, एक दीवार में आलमारी बनी हुई है । इसमें पाँच फुट सिलेटी वर्ण की तीर्थकर प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित है । प्रतिमा का एक हाथ कुहनी से खण्डित है । दोनों पैर खण्डित हैं । बाँह और पेट क्रेक हैं । छाती से नीचे पेट का भाग काफी घिस गया है । मुख ठीक है । ग्रामीण लोग तेल-पानी से इसका अभिषेक करते हैं इस कमरे के बाहर चबूतरे पर एक भग्न मूर्ति पड़ी हुई है । यह खड्गासन है । यह तीर्थकर मूर्ति है । रंग सिलेटी है तथा अवगाहना ४ फुट के लगभग है । यह खड्गासन है । यह इतनी घिस चुकी है इसका मुख तक पता नहीं चलता । मूर्ति के पाषाण में पर्तें निकलने लगी हैं ।

अब वर्ष २००१ में यह मन्दिर नया बन चुका था । खड्गासन मूर्ति ५ फुट ऊँची पार्श्वनाथ स्वामी की है एवं इस मन्दिर के पश्चिम की दीवार में जड़ दी गयी है । अन्य अत्यन्त घिसी मूर्ति का पत्थर बाहर से उठा कर अन्दर मन्दिर में इस लेखक द्वारा रखवा दिया गया है ।

(३) तालाब—फ्रांसिस बुकनान ने दो तालाब बताये हैं। एक पुरायिन ताल या नेलुंबियम पत्तियों का तालाब जो गाँव के पास है, दूसरा तालाब-करनाई-छोटे मन्दिर के पास है।

लिस्टन ने किसी तालाब का वर्णन नहीं किया है।

कनिंघम ने बतलाया है कि यहाँ चार तालाब हैं। उनका कहना है कि ये तालाब गर कहलाते हैं। यहाँ के गरों के नाम हैं—(१) पुरिना गर-गाँव के उत्तर स्थित, (२) करहही गर-इस टीले के उत्तर-पश्चिम में, (३) झकराहि गर-उत्तर-पूर्व दिशा में, जिसे सोफा गर भी कहते हैं, (४) असकामिनि या अकासकामिनि गर-गाँव के पूर्व दिशा में है। कनिंघम के अनुकूल इसे ही बुकनान ने करनाई कहा है। कनिंघम का अनुमान है कि इसी गर से इन सब ऐतिहासिक भवनों हेतु ईंटें बनीं होगी एवं निर्माण में प्रयुक्त मिट्टी ली गयी होगी।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'राष्ट्रीय सहारा' ने एक लेख छापा जिसकी प्रति 'तीर्थ वंदना' के अप्रैल, २००१ के अंक में छपी, जो परिशिष्ट-१७ पर है। इस लेख में लिखा है कि जो ५ फुट ऊँची पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति खण्डित अवस्था में है अब नये मन्दिर की पश्चिम की दीवार में जड़ी गयी है। उसको गाँववाले 'सोफा बाबा' कहकर पुकारते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस मन्दिर के पास के गर का एक नाम कनिंघम ने 'सोफा गर' बताया है।

इस स्थान की कई यात्राओं में मैंने देखा कि स्तम्भ के पास 'गर' (तालाब) में जब पानी कम था तब एक मोटी मजबूत दीवार दिख रही थी। श्री आर०बी० पाण्डे कहते हैं कि स्तम्भ के पूर्व दिशा में एक तालाब है जो सही नाप-जोख में है। श्री लिस्टन ने तो शिलालेख की अन्तिम पंक्ति के अर्थ निकाले कि पास में एक बावरी स्तम्भ के साथ बनाई गई है। स्पष्ट है यह स्तम्भ की शोभा हेतु कोई पक्की बावरी बनाई गई होगी।

(४) स्तम्भ के समक्ष मन्दिर—राजबली पाण्डेय ने स्तम्भ के सामने मन्दिर होने के दो तर्क दिये हैं (१) उन्होंने कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ किसी पुराने ईंटों के ढेर पर रखी देखी। उनके अनुकूल ये अवश्य ही उन मूर्तियों के टुकड़े थे जो स्तम्भ के सामने के मन्दिर में स्थापित की गई थीं। (२) इस प्रकार के स्तम्भ मंदिर के सामने ही बनाये जाते हैं। यह स्तम्भ भी एक मन्दिर के समक्ष होगा, जिस मन्दिर का दरवाजा पूरब की तरफ होगा।

इस क्षेत्र का निरीक्षण करने वाले सबसे पहले पुरातत्वविद् बुकनान ने लिखा है कि यह ग्राम एक मलवे के ढेर पर बसा है। यह मलवे का ढेर किसी मंदिर के ध्वस्त होने से बना लगता है। कनिंघम कहते हैं कि मैं समझता हूँ कि यह स्तम्भ किसी मन्दिर

के दरवाजे के समक्ष बना था ।

भगवानलाल इन्द्र जी का कहना है कि यद्यपि इस स्तम्भ के पास अब कोई मन्दिर नहीं है, परन्तु स्तम्भ के उत्तर में २५ फुट की दूरी पर मंदिर की ईंटों की नींव उपलब्ध है जिस पर कभी जैन मन्दिर बना था । इस प्रकार इन्होंने सम्भवतः उत्तर दिशा में वह ही अवशेष खोजे हैं जो कनिंघम ने मलवे के ढेर के रूप में देखे थे । कनिंघम ने यह भी लिखा है कि स्तम्भ के चारों तरफ अन्य मंदिर व भवन भी होंगे, अन्यथा इतना बड़ा टीला कैसे बनता जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम १२०० फुट, औसत चौड़ाई ४०० फुट है एवं पास के खेतों से जिसकी ऊँचाई ६ फुट तक है । भगवानलाल इन्द्र जी का कहना है कि स्तम्भ मंदिर के सामने होगा । पंडित बलभद्र का कहना है कि यहाँ खुदाई कराने से भगवान पुष्पदन्त-जिनका यह तीर्थ है—का मन्दिर निकलने की सम्भावना है । ऐसे स्तम्भ हमेशा मंदिर के सामने ही होते हैं ।

इन सब तर्कों में यह भी जोड़ना उचित है कि स्तम्भ में नीचे की मूर्ति स्तम्भ के पश्चिम पहलू पर बनी है । वह तब ही सम्भव है जब इसके सम्मुख पूर्वमुख का मंदिर हो अन्यथा स्तम्भ के नीचे की मूर्ति पूर्व पहलू पर या उत्तर पहलू पर उकेरी जाती ।

(५) मंदिर के पास स्तूप अथवा गोल चबूतरा—पुराना मंदिर जो बुकनान ने भी वर्णन किया है के स्थान पर अब नया मंदिर बन गया है । इस मंदिर के पूर्व-दक्षिण छोर पर एक गोल चबूतरा, दिखाई दे रहा है । यह नये मंदिर के चबूतरे से लगा हुआ है । पुराना मंदिर जैसा कनिंघम ने नापा केवल १२'-६" x १२'-६" का था । इस चबूतरे की दूरी पुराने मंदिर से लगभग १०' रही होगी । इस चबूतरे का पंडित बलभद्र ने भी वर्णन किया है ।

इस मंदिर में पहले से पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति विराजमान थी । इस मूर्ति को गाँव वाले 'सोफा बाबा' कहते हैं जैसा कि 'सहारा इण्डिया' में लिखा है । अनुमान लगाया जा सकता है, सोफा शब्द सूफ-सूप-स्तूप से बना होगा । यही वह स्तूप होगा जो भगवान पुष्पदन्त के दीक्षा कल्याणक अथवा केवलज्ञान कल्याणक स्थल पर बना होगा ।

११. निष्कर्ष

नवमं तीर्थकर पुष्पदन्त स्वामी की दीक्षा एवं उनका निर्वाण 'ककुभवन' में हुआ था । कालान्तर में यहाँ ग्राम बस गया और तीर्थ के रूप में इसकी प्रतिष्ठा हो गई । इस ग्राम में प्राचीन काल से ही जैन यात्री आते होंगे । यह ग्राम काकन्दी नगर के पास एवं वैशाली से श्रावस्ती जाने वाले प्रमुख मार्ग पर था । यहाँ जैन मंदिरों का निर्माण

भी दाफी पूर्व से आरम्भ हो गया होगा, जिसके पुरातात्विक प्रमाण इस क्षेत्र की विस्तृत खुदाई से मिल सकते हैं। गुप्त काल में यह निर्माण प्रक्रिया आगे बढ़ी व एक स्तम्भ भी बनाया गया जो अभिलिखित है एवं अभी तक मौजूद है। इस स्तम्भ को १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रांसिस बुकनान ने खोजा एवं तब से अब तक यह स्तम्भ पुरातत्वविदों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह अध्ययन इसी स्तम्भ के इतिहास को लेकर प्रारम्भ किया गया है। इस अध्ययन में निम्न निष्कर्ष निकालते हैं। तिलोयपण्णत्ति (ई० सन् ५४०-६०९) एवं महापुराण (ई० सन् ८००-८४८), जिन की रचना इस स्तम्भ के निर्माण के बाद की है में पुष्पदन्त के दीक्षा एवं केवलज्ञान के स्थान का नाम 'पुष्पक वन' एवं 'पुष्प वन' लिखा है। मैंने शब्दों की विवेचना से इस लेख में यह बताने का प्रयत्न किया है कि 'पुष्पक वन' व पुष्प वन' 'ककुभ वन' का ही नाम है क्योंकि ककुभ का अर्थ है अर्जुन का पेड़, जिस पर अति सुन्दर पुष्प पल्लवित होता है। इस प्रकार यही ग्राम तिलोयपण्णत्ति एवं महापुराण में वर्णित पुष्पदन्त स्वामी के दीक्षा एवं केवलज्ञान का स्थान है।

इस लेख में मैंने यह भी अनुमान प्रगट किया है कि निर्माण के समय स्तम्भ के आस-पास फर्श इतना नीचा था कि चौकोर भाग की ऊँचाई ९ फुट थी। यह फर्श नीचा करना स्तम्भ की शोभा एवं सुरक्षा के लिये आवश्यक है। स्तम्भ के पास का गर (तालाब) मद्र के समय से ही पक्की बावरी थी जो स्तम्भ की शोभा बढ़ा रही थी। इस पक्की बावरी का पुनः निर्माण इस स्थल की शोभा में चार चाँद लगा सकता है। इस स्तम्भ के शीर्ष पर एक लोहे की खूँटी है। मेरा मत है कि इस खूँटी पर एक मूल्यवान सोने का या किसी धातु पर सोने का पत्तर चढ़ा शिखर रहा है। मेरी धारणा है कि स्तम्भ पर उत्कीर्ण पाँच तीर्थकर मूर्तियाँ ही शिलालेख में वर्णित पञ्चेन्द्राँ हैं, नीचे पार्श्वनाथ हैं एवं ऊपर सर्वतोभद्र में पश्चिमी पहलू पर श्री आदिनाद स्वामी हैं। शेष तीन प्रतिमा लांछन या नाम के अभाव में पहचाने नहीं जा सकी हैं। परन्तु क्योंकि यह पुष्पदन्त स्वामी का तीर्थ है इस कारण इनमें पुष्पदन्त स्वामी की भी मूर्ति होगी। मैंने यह भी कहा है कि नवीन मंदिर के समक्ष कोई स्तूप रहा होगा जो प्रागैतिहासिक काल से पुष्पदन्त स्वामी के दीक्षा अथवा/एवं केवलज्ञान स्थल पर बना होगा।

पास के विस्तृत खण्डहर अपने में बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री दबाये हुये हैं जिनमें जैनधर्म एवं विशेष रूप से पुष्पदन्त स्वामी का इतिहास छिपा है। यह लेख आगे के अन्वेषण हेतु समर्पित है।



Appendix - 1

The History, Antiquities, Topography and Statistics of Eastern India, Vol.2, 1838, reprint Cosmo Publications, Delhi in 1976, Page 366-367 and figure - 2.

About six miles north and west from Bhagulpoor, near village named kangho, is a pillar attributed also by some to Parasu Rama, and by others to Bhim, the son of Pando; but most people call it merely the staff (lath), and have no tradition whatever concerning the person by whom it was made. It is much more elegant than the one near bhagulpoor (*Plate 5, No.2*), stands erect, and is 21 feet high. The base for about four feet is a quadrangle of 22½ inches a side, and has a Buddha on its west face. The image is naked and stands before a large many headed serpent, while there is a votary at each foot. The shaft for about seven feet is octagonal, and on two of the faces has an inscription of 12 lines, tolerably perfect, which has been copied in the drawing. The character differs much from that on the pillar at Bhagulpoor, and still more from the Devanagri now in use, and has some resemblance to that in the ruins of Mahabalipoor south from Madras. The upper part of the shaft has 16 sides, alternately wider and narrower. The capital is about 6 feet long, and is not easily described, but near its upper end is quadrangular, with the figure of standing Buddha carved on each face. A large spike, apparently, metallic, is inserted into the top of the pillar, and it probably supported an ornament of the same material. The pillar has stood in a small quardrangular area, which contains a well, and has been surrounded by a brick wall, and probably by some small chambers. Near it are two small tanks. One is called Purayin, or the tank of Nelumbium leaves. Beyond this is the village of Kangho, situated on a heap of rubbish, which has probably been a temple. The other tank is called Karnai, and surrounds

in an attempt to destroy altogether the building, or in search of treasure, I did not learn. In the lower chamber I found two fragments of images, which probably had been broken by some zealot who was offended by their heterodoxy. One had represented a person standing, but only the two feet and a female votary seated at one side remained. Two persons had been standing behind the female, but only their legs remain. The other fragment contained the figure of some quadruped very much defaced, but probably intended to represent a buffalo.



Appendix - 2

The journal of the Asiatic society of Bengal, Vol.7, 1838
page 33,34,36,37,38,39, plate 1.

IV - Facsimiles of Ancient Inscriptions, Continued.

Notice of antiquities discovered in the eastern division of Gorakhpur; with a copy of an inscription on a stone pillar, & c. By D. LISTON, Esq.

I have the pleasure of sending you a copy of an inscription on a pillar which stands close by the village of *Kuhaon* in *tuppah Myle*, *pergunnah Selampoor Mujomlee*, *zillah Gorakhpur*. The copy I believe to be tolerably correct, it was first transcribed by a friend and myself on the spot; a clean copy of it was then made at leisure, taken back and compared letter by letter with the original.

The people of the village had no tradition to offer regarding the erection of the column, but it was generally agreed by them and others that no one who had made the attempt had been able to decipher the character, though it had occasionally been visited by natives of learning who had essayed the task.

The pillar is of very compact sandstone and the letters deeply and clearly carved. Should it be my lot to return to the *pergunnah*, I shall be most happy, if you intimate that the inscription contains matter of importance, to endeavour to take an accurate impression of it, so that it may be submitted to the examination of those who have studied the characters of such inscriptions, exactly as it appears on the column.

The base of the pillar to the height of four and half feet is a square of one foot ten inches. At 4-6 it is wrought into an octagonal form, and it is on the three northern faces of this

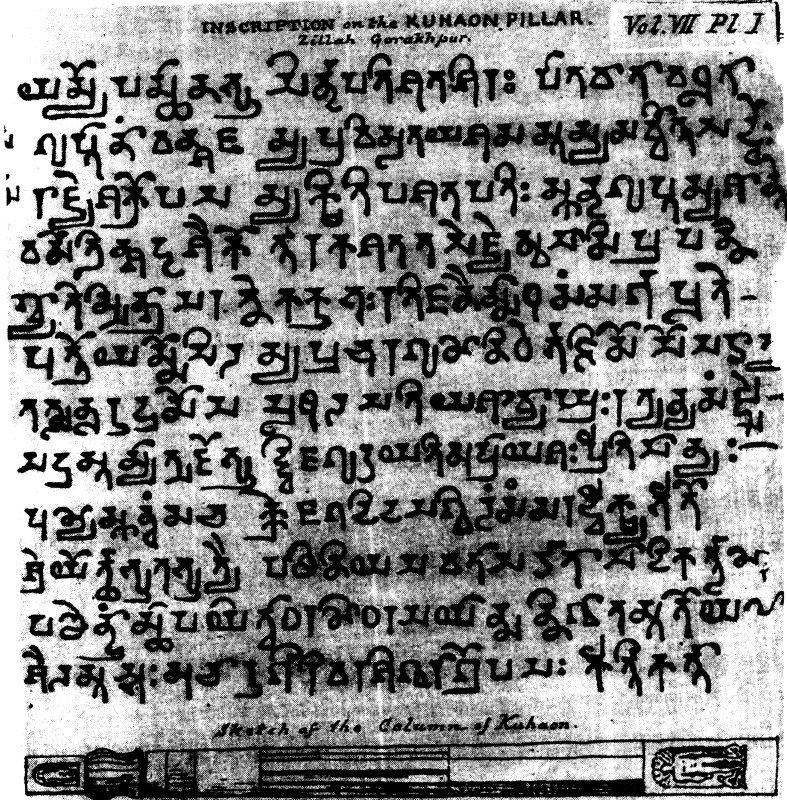
portion of the column that the inscription is found. The accompanying sketch which I have attempted will serve to give an idea of the appearance of the column. The base portion on the western side has a naked male figure in relief carved on it, two females kneel at his feet and behind him is a snake coiled, gifted with seven heads which form a sort of canopy over the hero or god. On each aspect of the square portion of the column at the upper end is also a figure in relief, and the whole is topped by a metal spike, on which most probably was fixed a lion or *Singh*, but that has disappeared; not a fragment even remaining as evidence of its former existence.

All these objects (Pillar 5 miles south-east *Kuhon* & stone images at *Serga*) have ceased to attract much respect or even to excite much interest, and seem the remains of a people or of a religion that has passed away. Though taking somewhat lively interest in remains of this sort, it has been by accident that those of which I have given this notice have come under my observation. I had been encamped at *Bhagalpur* several times, and for days together before I heard of the pillar at that village, and, in consequence, of the more entire one at *Kuhaon*. It is not indeed easily found, being situated in a small mango tope and close by one of the trees. That at *Kuhaon* stands isolated and is a conspicuous object to the passing traveler from every side.

Note on the above inscription from Gorakhpur, by J.P.

The *Kuhaon* inscription is however of a much more interesting character. (in comparison of inscription on column at *Bhagalpur*) Perceiving from the copy which accompanied by the above note, that it was in the *Chandra Gupta* (or for

Plate-1



shortness sake the Gupta) alphabet, I requested the author to take off an impression from the stone itself, which he has since done with entire success, acknowledging that with all the care he had taken in his former copy there were discrepancies and redundancies which he could have believed impossible.

The facsimile is introduced on a reduced scale into Plate I. It is in excellent preservation, and the versification, in the *Srigdhara* measure complete throughout. At the head of the second and third lines only there are a couple of superfluous letters introduced, in the former सि and in the latter छः which I presume should be read together as *śiddha*, 'accomplished' - or it may be the name of the sculptor. After transcription, my pandit KAMALÁ KÁNTIA readily furnished me with the interpretation of this curious monument, which I accordingly annex in modern Devanágari and translation:

Transcript in Modern Devanagari.

यस्योयस्थानभूमि नृपतिशतशिरः पातवातावधूता
 गुप्तानां वन्शजस्य प्रविस्तृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धः
 राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्तेः
 वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकर्शततमे ज्यैष्ठमासि प्रपन्ने
 ख्यातेस्मिन्ग्रामरत्ने ककुभः रति जनैस्साधुसंसर्गपूते
 पुत्रो यस्सो मिलस्य प्रचुर गण निधेर्भट्टि सोमो महात्थः
 तत्सुनूरुद्रसोमः प्रथुलमति यशा व्याघ्रः रत्यन्यसंज्ञो
 मद्रस्तस्यात्मजो भूद्द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः
 पुण्य स्कन्धं स चक्रे जंगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
 श्रेयोर्त्थं भूतभूतै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृण्
 पञ्चेन्द्रां स्थपयित्वा धरणि धरमयान्सन्निखातस्ततोयाण्
 शैलस्तम्भः सुचारुगिरिवरशिखराग्रोपमः कीर्ति कर्त्ता*

*The following errors of orthography are noted by the pandit : applying न before श and ग in the second fourth lines. The insertion of *visarga* in ककुभःरति and व्याघ्रःरति भीतो for भीतः in the ninth line : the ण final of the tenth and eleventh lines, which sould both be नः and खात स्ततोयां in the 10th which should be खातस्थतोयां.

Translation.

"In the month of *jyaistha*, in the year one hundred and thirty-three† after the decease‡ of SKANDA GUPTA, the chief of a hundred kings, resembling INDRA in his rule, possessed of the chiefest of riches, enjoying far-spread reputation, born of the royal race of the GUPTAS, whose earthly throne was shaken by the wind of the bowing heads of a hundred kings.

At this celebrated and precious village, sanctified in reverential attachment by the inhabitants of *Kakubharati*§.

The opulent BHATTI SOMA was the sone of AMILA, the receptacle of good qualities. His son was the very famous and talented RUDRA SOMA, known by another appellation as VYAGHRARATI.* His own son was MADRA, the constant and friendly patron of *brahmans*, *gurus*, and *yatis*. He, struck with awe at beholding the universal instability of this world, made (for himself) a road of virtue+; having set up (established) along the roadside, five images, made of quarried stone, of INDRA, objects of adoration to the religious and devout, for the increase of his own moral merit and the happiness of mankind; (the same) having attached thereto a tank filled with water.

This stone pillar, beautiful and lofty as the craggy pinnacles of the mountains, is the maker of renown: (i.e. records his meritorious act.)"

The circumstance of chief importance in the above monument, is its allusion to 'SKANDA GUPTA, of the family of the GUPTAS' a name so well known to us from the *Bhitari* inscription and from our *Canouj* coins. That his sway was

nearly as potent as the expression 'lord of a hundred kings' would seem to convey, I shall have hereafter occasion to prove by the exhibition of his own name and of that of his predecessor KUMÁRA GUPTA on the coins of *Saurashtra* or *kattywār* on the western extremity of the Indian continent. The death of this prince is here employed as an epoch in a somewhat enigmatical way. According to the ordinary mode of interpretation, the several figures should be set down from the right to the left hand; thus 30+2+1+100 should be written 1001230; but, as this would be evidently ridiculous, I have rather summed the whole together as '133 years after the death of SKANDA'. It does not appear who succeeded him, or whether the GUPTA dynasty there terminated; but I think it is open to conjecture that the whole power was usurped by the minister's family, because we find TILA BHATTI, a chief magistrate, erecting the *Allahabad* pillar, and we here find another of the same name, the opulent BHATTI SOMA, the son of AMILA (BHATTI?) at the head of new race, not to be sure arrogating to themselves the title of *rāja*, but possessing wealth and power and erecting pillars in their own name. Four generation from AMILA, viz. 1 AMILA, 2 BHATTI SOMA, 3 RUDRA SOMA, 4 MADRA - will give about 33 years to each generation which for private life may be tolerably near the ordinary average.

The five *Indras*^o may possibly be the five figures stated by Mr. LISTON to be carved, four on the upper part, and one on the lower of the pillar itself, for there are no other relics in the neighborhood. As the inscription states, it is placed on the high road in a most conspicuous position, although it had hitherto escaped the eye of an European. We perceive from this specimen that the alphabetical character had undergone no change since the time of SAMUDRA GUPTA, say in two centuries.

- † Lit. "The month *Jyestha* in the year thirty and two and one plus one hundred, being arrived."
- ‡ *Shantéh*, of the repose, i.e. death.
- § Written *Kakubhahrati* कुकुभः रतिजनैस (sic): the meaning must be that such was the name of the village; and probably the modern *Kuhaon* may be a corruption of the ancient appellation *kakubha*.
- * *Punyaskandham sa chakkre*; in punning allusion perhaps to his adorning the road with these five images.
- + The word seems to be written *Pachaindrám* from the contracted space occupied by the *n* of पञ्च. The small figure below has very much the character of Buddha.
- ° The lover of (the bunting of) tigers.



Appendix.-3

The Bhilsa topes by Brev-Major Alexander Cuningham,
1854, pages 138-39, 141-42, 144.

THE GUPTA DYNASTY-DECLINE AND FALL OF
BUDDHISM

(Page 138-39)

1. At the period of Fa Hian's pilgrimage, the Gupta dynasty occupied the throne of Magadha. Their dominions extended from Népal to the Western Gháts, and from the Indus to the mouths of the Ganges. The family was established by *maharaja* GUPTA, in 319 A.D., which became the first year of the GUPTA era. This epoch is not mentioned in the Allahabad inscription of Samudra Gupta; but it is used in the Sánchi and Udayagiri inscriptions of Chandra Gupta; in the Kuhaon Pillar inscription of Skanda Gupta; and in the Eran Pillar inscription of Budha Gupta. It is besides especially mentioned by Abu Rihan, who, in his account of Indian ears, identifies the GUPTA-KÁL, or Gupta era, with the BALLABA-KÁL, or era of *Balabhi*, which commenced in A.D. 319. these eras are mentioned no less than three times by Abu Rihán; and each time he has identified them as starting from the same date.

(Page 141-42)

The chronology of the Guptas as derived from all sources will then stand thus*:-

NAME		TITLES	GUPTA ERA	A.D.
I	GUPTA	0	319
II*	GHATOT KACHA	21	340
III*	CHANDRA GUPTA 1ST	41	360
IV*	SAMUDRA GUPTA	Parākrama	61	380
V*	CHANDRA GUPTA 2ND	Vikramāditya	81	400
VI*	KUMĀRA GUPTA	Mabendra	111	430
VII*	SKANDA GUPTA	Kramaditya	121	440
VIII		Lagrāditya†	133	452
LX*	BUDHA GUPTA	161	480
X	TAKTA GUPTA	191	510
XI	NARA GUPTA	Baladitya	221	540
XII	VĀJRA	251	570
	Conquest of Siladitya.....	281	600

The stars placed against the names in this table denote that coins have been discovered of each of those princes; and it is from coins alone that I have ascertained that BALADITYA was named *Nara Gupta*. The chronological table has been framed upon the following data.

(Page 144)

3rd. The date of Skanda Gupta's death, which is found upon the Kuhaon Pillar, is the year 133**. No era is stated; but it must of course be that era which was used by the "royal race of Guptas," of which he is said to have been born, and which could only have been the *Gupta-kāl*, or Gupta era. His death, therefore, occurred in $319+133=452$ A.D., as given in my table.

*The dates obtained from various sources are: for Chandra Gupta vikramaditya, 82 (Udayagiri Inscription), and 93 (Sanchi inscription), equivalent to A.D. 401 and 412, from Jain authorities A.D. 409; and from Chinese authorities A.D. 428- for Skanda Gupta - his death in 133, or A.D. 452, as stated on the Kuhaon pillar; for Budha Gupta 165, or A.D. 484, as given in the Eran pillar inscription.

† Or Lokaditya.

** Prinsep's Journal, vii. 37.

Appendix. 4

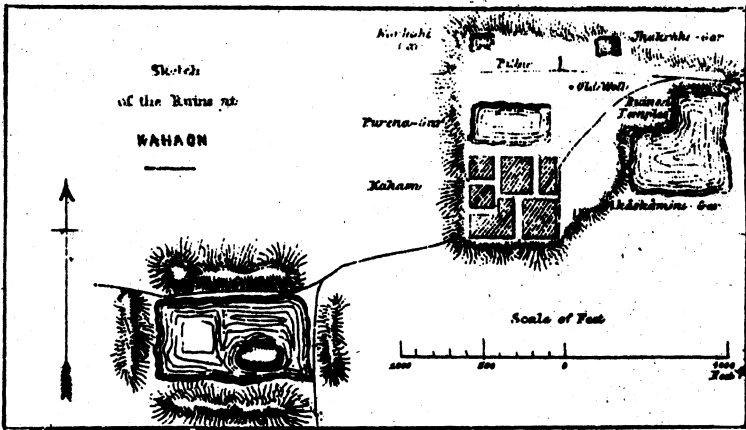
Archaeological Survey of India, vol.1, 1871, page 91-95, plate 28, 29, 30.

XXII. KAHAAON

The village of Kahaon is situated eight miles to the south of Khukhundo, and 40 miles to the south-east of Gorakhpur in a direct line. To the north of the village there is a stone pillar, and also some other remains, which have been described by Dr. Buchanan¹ and by Mr. Liston². Dr. Buchanan calls the villate *Kangho*, but the name is written *Kahaon*, or *kahāwan*, by the people of the place, and I can only surmise that Buchanan's *kangho* may have been originally written *Kanghon*, and that the final nasal has been omitted by mistake, either in copying or in printing. In the inscription on the pillar the village would seem to be called *kakubharati*; and from some compound of *Kakubha*, such as *Kakubhawan*, the name of *Kahāwan* would be naturally derived.

The remains at *Kahaon* consist of an inscribed stone pillar, an old well, two ruined temples, and several tanks. The whole of these, together with the village itself, are situated on a low but extensive mound of brick ruin. Although the mound is of rather irregular outline on the east side, it may be best described as a square of nearly 500 yards³. The village occupies the south - western quarter of the square, and contains some fine old wells build of very large bricks, which are a sure sign of antiquity. The tanks, which would seem to have been connected with the old buildings, are all called *gar*, the meaning of which I was unable to ascertain, but which as applied to water, much certainly be derived from the Sanskrit *gri*, to wet. These tanks are, 1st, the *Purena-gar*, a dirty pond immediately to the north of the village; 2nd, the *karhahi-gar*,

Plate-28



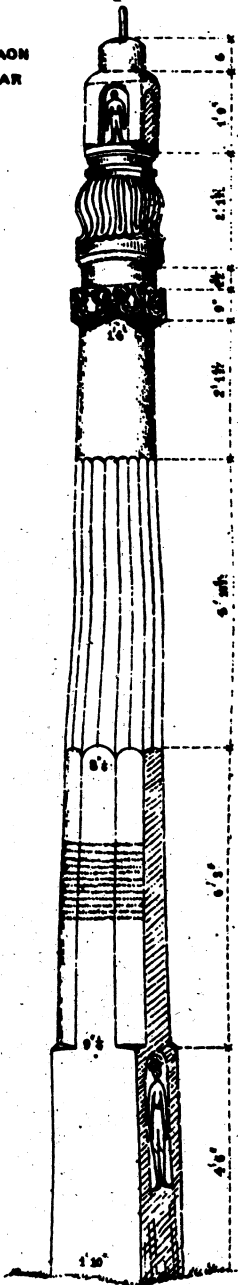
A. Cunningham del Litho. at the Survr. Gen's. Office. Cal. October 1871.

a small deep pond at the north-west angle of the ruins; 3rd, the *Jhakrahi-gar*, another small pond at the north-east angle, which is also called *Sophâ-gar*; and 4th, a large sheet of water to the east of the village called *Askâmini*, or *Akâskâmini-gar*. This is the tank which Buchanan calls *Karahahi*, a misprint probably for *Kâmini*. From the size and appearance of the *Askâmini* Tank, I conclude that from it must have been excavated all the bricks and earth for the construction of the temples and village of Kahaon.

The Kahaon Pillar is a single block of coarse grey sand stone, 24 feet 3 inches in height from the ground to the metal spike on the top. The existence of this spike shows that the pillar has once been crowned by a pinnacle of some kind, perhaps by a statue of a lion, or of some other animal rampant; but whatever the pinnacle may have been, its height could not have exceeded $2\frac{1}{2}$ or 3 feet. The total height of the column, therefore, must have been about 27 feet. The lower part of the shaft, to a height of $4\frac{1}{2}$ feet, is a square of 1 foot 10 inches;

Plate-29

KANAKH
PILLAR



above this, for a height of 6 feet 3 inches, it is octagonal; then sixteen sided for a height of 5 feet 10½ inches; and then circular for a height of 2 feet 1½ inch. Above this, for a height of 9 inches, the pillar becomes square with a side of 18 inches, and then circular again for a height of 4½ inches, making the total height of the shaft 19 feet 10½ inches. The height of the capital, in its present incomplete state, is 4 feet 4½ inches. The lower portion, which is 2½ feet high, is bell shaped, with circular band of moulding both above and below. The bell itself is reeded, after the fashion of the Asoka pillars. Above this the capital is square, with a small niche on each side holding a naked standing figure. The square top slopes backward on all sides, and is surmounted by a low circular band, in which is fixed the metal spike already described⁴.

On the western face of

the square base there is a niche holding a naked standing figure, with very long arms reaching to his knees. Behind, there is a large snake folded in horizontal coils, one above the other, and with its seven heads forming a canopy over the idol. Two small figures, male and female, are kneeling at the feet, and looking up to the idol with offerings in their hands.

On the three northern faces of the octagonal portion of the pillar, there is an inscription of 12 lines in the Gupta characters of the Allahabad Pillar⁵. There is a good copy of this inscription in Buchannan⁶, and another and better copy in Prinsep's Journal⁷. In the translation given by James Prinsep, the date was read as being 133 years after the decease of *Skanda Gupta*, instead of in the year 133, after the death of Skanda. The true number of the year is 141, as pointed out by Professor Fitz Edward Hall, but the epoch or era in which the years are reckoned is doubtful. Professor Hall, on the authority of *Bâpu Deva Sâstri*, the learned Astronomer of the Banâras College prefers the era of *Vikramâditya*, but I am inclined to adopt that of *Sake*; and this era, I believe, is also preferred by Mr. Thomas. The difference between the two is 135 years. If dated in the Vikrama era, the pillar must have been erected in $141-57 = 84$ A.D.; but if dated in the Sake era, the period of its erection will be $141+78=219$ A.D. The latter date, I think, accords best with the now generally admitted epoch of the overthrow of the Gupta Dynasty in A.D. 319.

The purport of the inscription, as translated by Prinsep, is simply to record the dedication of five images of Indra by one *Madra*, who calls himself "the constant and friendly patron of *Brahmans, Gurus, and yatis*," or "Brahmans, religious teachers, and sages", or Ascetics who have subdued their passions. In the present day the term *Yati* is, I believe, applied

यमोप्युक्तमिदं पुरातनमिदं ॥ पुरातनमिदं ॥
 मी गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ १ ॥
 मातृगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ २ ॥
 कर्मगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ३ ॥
 गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ४ ॥
 पुरुषोत्तमगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ५ ॥
 गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ६ ॥
 मनुष्यगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ७ ॥
 पुरुषोत्तमगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ८ ॥
 गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ९ ॥
 पुरुषोत्तमगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ १० ॥
 गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ ११ ॥
 पुरुषोत्तमगुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ १२ ॥
 गुरुपुत्रकृष्णप्रसिद्धगणपतिसमस्तु ॥ १३ ॥

only to a Jain Priest; and, although at first the mention of Brahmans would seem to preclude any reference to the Jain religion, yet the *Yatis* themselves are usually, if not always, Brahmans, and the naked figures with crisp curled hair, on the base and capital of the pillar, must belong either to the Jains, or to the latter *Tāntrika* Buddhists. I found a similar naked standing figure, canopied by a seven headed snake, inside the great mound of old Rājagriha.

Both of the temples described by Buchanan* are now in ruins; and as they are not mentioned by Mr. Liston in 1837, they must have fallen before his visit. Buchanan describes them as pyramidal in form, with two apartments, one over the other, as in the great temple at Buddha-Gaya. Inside he found only two fragments of images, of which one showed the feet of a standing figure with a female votary seated at one side. I made

an excavation in the northern ruin, and found that the temple had consisted of a room 9 feet square with walls only 1 foot 9 inches in thickness. The building, therefore, was only 12 feet 6 inches square on the outside. In the slight sketch of this temple given by Buchanan, no dimensions are noted, but the height of the building is twice and a half its width, or about 30 feet, according to the measurement obtained by my excavation. On the ruin of the southern temple, I found a naked standing figure of life-size, similar to that on the base of the pillar.

Immediately to the north of the pillar, and on the highest point of the mound, there are traces of the brick walls of some building; and to the south east, there is an old well which has been lately filled up. Buchanan describes the pillar as having originally "stood in a small quadrangular area, surrounded by a brick wall, and probably by some small chambers." I presume that the pillar must have been placed opposite the entrance of the temple, in which the *Panchendra* or five images of Indra were enshrined. It is probable that there were several temples and other buildings crowded around the pillar, otherwise it will be difficult to account for the great size of the mound, which, though not more than 6 feet in height above the fields, extends from west to east up wards of 1,200 feet, with an average breadth of 400 feet.

-
1. Eastern India-II, p. 366
 2. Bengal Asiatic Society's, Journal, 1838, p. 33
 3. See Plate XXVIII
 4. See Plate XXIX
 5. See Plate XXX
 6. Eastern India, II, Plate-V
 7. Bengal Asiatic Society's, Journal, 1838, Plate-I
 8. Eastern India, II, p. 367

Appendix. 5

The Indian Antiquary, Vol 10, 1881, Reprint Delhi 1984, pages 125-126, plate-1.

THE KAHÂUÑ INSCRIPTION OF SKANDAGUPTA BY BHAGWÂN LÂL INDRAJI PANDIT AND THE EDITOR.

The Kahâuñ Inscription of Skandagupta was noticed by Dr. Buchanan¹, but was first brought to the notice of Mr. J. Prinsep in 1837, by Mr. D. Liston, who sent him a description of the pillar with a copy, and after wards an impression, of the inscription.²

The village of Kahâuñ (कहाऊँ) is in the Selampur Majomli paragaṇa, about 46 miles in a straight line south east from Gorakhpur, the principal town of the district. The pillar, which stands to the north of the village, is about 24 feet high above ground, and is formed of a compact sandstone, the letters of the inscription being deeply and clearly cut. The base of the pillar, to the height of four and a half feet from the ground, is a square of 1' 10''; at 4' 6'' it changes into an octagon for a height of 6' 3'' and it is on the three northern faces of this portion of the shaft that the inscription is found. Above this a section 5' 10½'' in height has sixteen sides, then it is circular for 2' 11½'' over which is a square member 9'' thick, and 18'' square, - the pillar tapering slightly up to this. On a circular neck, 4.½'' in height, rests the capital which is of the Perepolitan type³ employed in other lâts, is 2' 1½'' in height, the principal member being bell-shaped and reeded. This is surmounted by a square block with a small niche on each side⁴ containing standing figures of naked Tirthankaras. Into a circular head, 6'' in height, over this square block, is inserted

an iron spike which probably supported some symbol of the Jaina religion. The beautiful monolithic column in the court of the Indra Sabhâ Jaina Cave-temple at Elurâ, which may be regarded as analogous to this, supported a Chaumukha or figure of four Jinas. Similarly the Buddhists, we know, placed lions, singly or in groups of four, on their *stambhas*, and the Śaivas a Triśûla. On the western side of the base of this pillar is also a naked figure of Pârśvanâtha - the snake being coiled up behind him in the fashion usually represented in Jaina sculptures with its *saptaphanîa* spread out as a canopy for the head of the Jina, while two females kneel at his feet.

Prinsep was the first to translate the inscription, but he made the date out as "30 and 2 and 1 plus 100" or "133 after the decease of Skandagupta." Gen. Cunningham in 1854 understood it to give the date of the death of Skandagupta in the year 133 of the Guptakâl.⁵ Dr. FitzEdward Hall in 1855 noted the error in the date,⁶ and later (in 1859)⁷ he read "the month of Jyshṭha having arrived in the one hundred and forty-first year; the empire of Skandagupta . . . being quiescent, &c." but in the following year, he gave this up, and published as 'a more tenable version' - "The month of jyeshṭha being current, the empire of Skandagupta . . . being extinct for the hundred and forty first year," &c.⁸ Dr. Bhau Dâji (1864) read it correctly⁹ - "In the month of Jyestha in the year 141, in the peaceful reign of Skandagupta". Lastly, Râjendralâla Mitra after a long discussion decides on taking the troublesome word *sânte* along with *varshe*, and alters Hall's reading to - "In the empire of Skandagupta, . . . the year 141 having passed away and the month of jaishṭhya arriving. &c."¹⁰

All these differences of rendering turned on the meaning and construction of the word *sânte*, and pañdit

Bhagwānlāl Indrāji in the following version and remarks, which I have rendered into English for him, supports Dr. Hall's first rendering and Dr. Bhau Dâji's.

The lithograph has been prepared from an impression which he took of the inscription in 1873, when he went to copy the Aśoka inscriptions at Ludiya and Âraraj. - J.B.

Transcript

सिद्धम्

- (१) यस्योपस्थानभूमिर्नृपतिशतशिरःपातवातावभूता
- (२) गुप्तानां वन्शजस्य" प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः
- (३) राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
- (४) वर्षे त्रिंश" दशकोत्तरकशततमे ज्येष्ठमासि प्रपन्ने
- (५) ख्यातेस्मिन्ग्रामरत्ने ककुभ इति जनैस्साधुसंसर्गपूते
- (६) पुत्रो यस्योमिलस्य प्रचुरगुणनिधेर्भट्टिसोमो महात्मा
- (७) तत्सूनू रुद्रसोमं (:) प्रथुलमतियशा व्याघ्र इत्यन्संज्ञो
- (८) मद्रस्तस्यात्मजोभूद्द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः
- (९) पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
- (१०) श्रेयोर्थं भूतभूत्ये पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन्
- (११) पञ्चेन्द्रास्थापयित्वा धरणिधरमयान्सन्निखासतस्ततोयम्
- (१२) शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवरशिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता

Translation

To the perfect one! He - the floor of whose audience hall is swept by the breeze of the bowing heads of hundreds of kings, born of the Gupta race, whose glory is wide expanded, prosperous beyond all others, like to Śakra, and master of hundreds of sovereigns, - in this Skanda-gupta's peaceful reign,

Remarks

The differences in previous renderings of the first *śloka* of this inscription have all turned on the word *śānte*, which means both 'peaceful' and 'expired'; but it was correctly construed by Dr Hall in his first version, and by Dr. Bhau Dâji. Dr. Hall's second rendering of 141 years after the extinction of the empire of Skandagupta is untenable on palaeographic grounds alone, as the characters do not belong to a later age than that of the Guptas. Then the Girnâr inscription of Skandagupta's governor Parnadatta, is dated 'in the year 136 calculated from the time of Gupta (*Gupta sya Kâlâdgananaâ Vidheya*)', and it is well known that the coins and all other dated inscriptions of the Guptas show no other era but this Râjendralâla Mitra connects *śānte* with the date which commences in the following *pada* of the *śloka*, and makes it express that the 'year' was 'expired', but such a construction is unusual.

The remainder of the inscription has not been translated since Prinsep's time.

The inscription states that one Madra, whose pedigree is given up to his great grand-father set up "five principal originators in the path of the Arhats," and then this pillar. The Jains call their Tirthankaras by the name of Âdikartris; but five of them, it is well known, are special favourites, viz:- *Âdinâtha*, *Sântinâtha*, *Neminâtha*, *Pârśva*, and *Mahâvira*. These are oftenest represented in their temples, and addressed at the beginning of Jain books. These are doubtless the "five lords" (*Panchêndra*) spoken of. The pillar we know from the sculptures on it to be Jainia, and though there are no temples near it now, there are traces of brick foundations in the ground about 25 feet distant from the pillar on the north, on which

must have stood a Jain temple in former times. Besides this, there are ruins of two temples on the east side of the pillar, at a distances of about 200 yards, which were standing in the time of Buchanan. In one of these ruins there is still a Jaina image of Pârśvanâth in Kâyotsarga Moodrâ.

1. Buchanan's *Eastern India*, vol. II, pp. 366,367 and pl. v.
2. *Jour. As. Soc. Beng.* vol. VII (1838), p. 34.
3. See Fergusson's *Ind. and East. Archit.* p. 54; there is a small sketch of the pillar in *Jour. As. S. Beng.* vol. VII, pl. i, p. 37; and another in Cunningham's *Archaeol. Sur. Reports*, vol. I, pl; xxix, p. 92.
4. I have availed myself, in these details, of General Cunningham's measurements, *Archaeol. Rép.* vol. I, pp. 91 ff.
5. *Bhilsa Topes*, p. 144
6. *Jour. A.S. Ben.* vol. XXIV (1855), p. 385 n.
7. *Jour. Amer. Or. Soc.* vol. VI, p. 530
8. *Jour. A.S. Ben.* vol. XXX (1861), p. 3n., where he gives a long note justificatory of his rendering of *śânte*, &c.
9. *J.B.B.R.A. Soc.* vol. VIII, 246.
10. *J.A.S. Beng.* vol. XLIII, p. 371.
11. Read वंशजस्य 12. Read त्रिंश'
13. Literally "thirty, ten, and one over a hundred."
14. *Dharaṇidharamayân*, literally 'made of a mountain,' but employed here to mean simply 'of stone.'
15. *Pañchendra* is an adjective to *Ādikartri*, -- 'five chief' or 'five lordly.'
16. *Ādikartri* - 'originators' the first who lead in the path, but usually applied to the Tirthankaras; see *Kalpa Sūtra*, *śakrastava*. नमोत्पुणं समणस्स भगणस्स भगवओ महावीरस्स आइगरस्स चरमत्तिथयरस्स- *Sanskrit trans.* नमोस्तु श्रमणाय भगवते महावीरयादिकत्रै चरमतीर्थकराय ।



Appendix. 6

Archaeological survey of India, Report of Tours in North and south Bihar in 1880-81; Vol.XVI, 1880-83, republished in Delhi in 1994, pages 129-30.

Note : The preface of this book gives this information- Mr. H.B. W Garricke joined General Cunningham on 4th December 1880. In his way from Kasia, Khukhundo to Bhagalpur he visited Kahaon to photograph the well-known pillar of Skanda Gupta. The account given by Mr. Garricke is added in the report of General Cunningham which is enclosed.

KAHAON, OR KAHONG

A little to the north of the village of *kahaon*, which is situated about one march south of *khukhundo*, and 46 miles south-east of Gorakhpur, there stands a stone pillar about three-fourths the size of those of *Laurya Navandgarh* and *rampürwa*. In a previous report of General Cunningham's full particulars with measurements of the *kahaon* pillar are given. The shaft is of rough grey sandstone, and shaped into no less than six different forms from base to top; the lower portion being square, a little higher up it is octagonal, then sixteen-sided; the next member assumes a circular form; above this the pillar is square, and finishes with a circular band; that is to say, the *shaft* finishes, as the upper portion of the capital is missing, though the metal spike by which it was fastened is still *in situ*, and lends to the pillar a most odd appearance. The usual bell-shaped capital crowns this column, and the metal spike most probably held the image of some animal, perhaps a lion, after the fashion of most Asoka monuments. On the west face of the pillar, in a niche formed to receive it, stands a perfectly nude figure, about 3½ feet high, with disproportionally long arms; there are also two attendant

figures, one on either side, with offerings in their hands. In my opinion, the principal feature of this sculpture is the fantastic canopy over it; this canopy projects from the niche to within a level of the most prominent part of the figure, and is formed by the heads of seven snakes, which emanate from behind the figure, and by their manifold coils, form the background. Towards the north, and on the octagonal part of the shaft of this pillar, there is an inscription of twelve lines¹. Besides this pillar, there are at *Kahaon* two ruined temples, and some tanks, &c., which, however, are hardly worth a separate note.

-
1. An impression of this inscription is given in Plate XXX of General Cunningham's Report of the archaeological Survey, 1861-62.



Encl.-7

Corpus Inscriptionum Indicarum by John Faithfull Fleet,
Vol. 3, 1888, pages 65-68, Pate IX.

KAHAUM STONE PILLAR INSCRIPTION OF SKANDAGUPTA
THE YEAR 141

This inscription appears to have been discovered by Dr. Francis Buchanan (Hamilton),-whose Survey of the Provinces, subject to the Presidency of Bengal, was commenced in 1807 and was continued during seven years, and whose manuscript results were transmitted in 1816 to the Court of Directors of the East India Company,-and to have been first brought to notice in his reports, from which Mr. Montgomery Martin compiled, and in 1838 published, the book entitled *Eastern India*, in which the inscription is noticed in Vol. II, p.366 f., with a reduced lithograph (*id. Plate v. No.2*)- In the same year, in the *Jour. Beng. As. Soc.* Vol. VII. p.37 f., Mr. James Prinsep published his reading of the text, and a translation of it¹, accompanied by a lithograph (*id. Plate i*) reduced from a copy made by Mr. D. Liston.- In 1860, in the *Jour. Amer. Or. Soc.* Vol. VI. p.530, Dr. Fitz Edward Hall published his reading of the first verse of the inscription, and a translation, which was subsequently revised and reprinted in the *Jour. Beng. As. Soc.* Vol. XXX. p.3, note - In 1871, in the *Archaeol. Survey. Ind.* Vol. I., p. 93 f. and Plate xxx., General Cunningham published another lithograph, reduced from his own ink-impression. And finally, in 1881, in the *Ind. Ant.* Vol. X. p. 125 f., Dr. Bhagwanlal Indraji published his revised reading of the text, and a translation of it, accompanied by a lithograph reduced from an impression made by him when he visited Kahâum in 1873.

Kahâum or **Kahâwam**², the ancient **Kakubha** or **Kakubhagrâma** of this inscription, is a village about five miles

to the west by south of Salampur-Majhauri³, the chief town of the Salampur-Majhauri parganâ in the Dêôriyâ or Dêwariyâ⁴ Tahsil or Sub-Division of the Gôrakhpur District in the North-West Provinces. The grey-sandstone column on which the inscription is, stands a short distance on the north of the village⁵.

Of the sculptures on the column, the most important are five standing naked figures, -one in a niche on the western face of the square base; and one in a niche on each side of the square block immediate below the circular stone with an iron spike in it, which, the original pinnacle having been lost, now forms the top of the column. As appears to have been first fully recognized by Dr. Bhagwanlal Indrajî, these are distinctly Jain images. He suggested that they represent the five favourite *Tirthamkaras*, Âdinâtha, Sântinâtha, Nêminâtha, Pârśva, and Mahâvîra. And they are in all probability the five images of *Âdikartris*, or Jain *Tirthamkaras*, referred to in the inscription itself.

The writing, which covers a space of about 2' 2½'' broad by 1' 8'' high, is on the three northern faces of the octagonal portion of the column; and the bottom line appears to be about 7' 6'' above the level of the ground. It is evidently in a state of excellent preservation throughout. - The size of the letters varies from 5/8'' to 7/8''. The characters belong to the northern class of alphabets, and are of the same type with those of the Allahâbâd posthumous pillar inscription of **Samudragupta**, No. 1, p. xff. above, Plate i. The language is Sanskrit; and, except for the opening word *siddham*, the inscription is in verse throughout. - In respect of orthography, the only points that call for notice are (1) the use of the dental nasal, instead of the *anusuâra*, before *ś*, in *vanśa*, line 2, and *ttrinśat*, line 4; and (2) the usual doubling of k and t, in

conjunction with a following r, e.g. in *chakkrê*, line 9 (but not in *śakrô*, line 3), and *puttrô*, line 6. - My lithograph has been prepared from a lithograph of the same kind, handed to me by Dr. Burgess, from which was prepared the opposite lithograph, with the letters in black on a white ground, published with Dr. Bhagwanlal Indraji's paper. One or two letters, imperfect in that lithograph, have been cleared out on the authority of General Cunningham's ink-impressions, which, though not adapted for complete reproduction, sufficed for this purpose.

The inscription refers itself to the reign of the **Early Gupta** king **Skandagupta**. It is dated, in words, in the year one hundred and forty-one (A.D. 460-61); and in the month *Jyêshṭha* (may-June); but without any specification of the day of the month or fortnight. As is shewn by the images in the niches of the column, as well as by the tenour of the record itself, this is distinctly a Jain inscription. And the object of it is, to record that a certain **Madra** set up five stone images of *Ādikarīṭis* or *Tīrthamkaras*, - i.e. apparently the five images in the niches of the column, - and the column itself, at the village of **Kakubha** or **Kakubhagrâma**, i.e. **Kahâum**.

TEXT⁶

1. Siddham⁷[11*] Yasy⁸ = ôpsthâna - bhûmir = nṛipati -
śata - śirah⁹ - pâta - vât - âvadhûtâ
2. **Guptânâm** vanśa-jasya pravisṛita - yaśasas=tasya sarvv-
ôttam-arddhêḥ
3. râjyê Śakra-ôpamasya kshitipa-śata-patêḥ
Skandaguptasya śântê
4. varshê trinśad-daś-aik-ôttaraka-śatatamê Jyêshṭha-mâsi
prapannê I(II)
5. Khyâtê=smin=grâma-ratnê **Kakubha** iti janais=sâdhu-
saṁsarga-pûtê I¹⁰
6. puttrô yas=Sômilasya prachura-guṇa-nidhêr =

Bhāṭṭisōmo mahāt[m] ā

7. tat-sûnû rudrasōma(h*) prithula-mati-yaśâ Vyâghra
ityanya-samjñô !¹¹
8. Madras=tasy=âtmajô=bhûd=dvija-guru-yatishu
prâyasah prîtimân=yah l(II)
9. Puṇya-skandham sa chakkrê jagad=idam=akhilam
samsarad=vîkshya bhîtô
10. śrêyô-rttham bhûta-bhûtyai pathi niyamavatâm =
arthatâm = âdikarttṛin
11. pañch=êndrân(n) sthapâyitvâ dharanidharamayân =
sannikhâtas=tatô=yam
12. śaila-stambhaḥ su-chârur=giri-vara-śikhar-âgr-
ôpamaḥ kîrtti-karttâ [II*]

TRANSLATION

Perfection has been attained !. In the tranquil¹² reign of Skandagupta, whose hall of audience is shaken by the wind caused by the falling down (*in the act of performing obeisance*) of the heads of a hundred kings; who is born in the lineage of the Guptas; whose fame is spread far and wide; who excels all others in prosperity; who resembles (the god) Śakra; (*and*) who is the lord of a hundred kings;- in the one hundredth year, increased by thirty and ten and one; the month Jyêshṭha having arrived;-

(Line 5.) - In this jewel of a village, which is known by people under the name of Kakubha, (*and*) which is pure from association with holy men¹³-(*there was*) the high minded Bhāṭṭisōma, who (*was*) the son of sōmila, that receptacle of many good qualities. His son (*was*) Rudrasōma, of great intellect and fame, who had the other appellation of Vyâghra¹⁴. His son was Madra, who (*was*) especially full of affection for Brâhmanṣ and religious preceptors and ascetics.

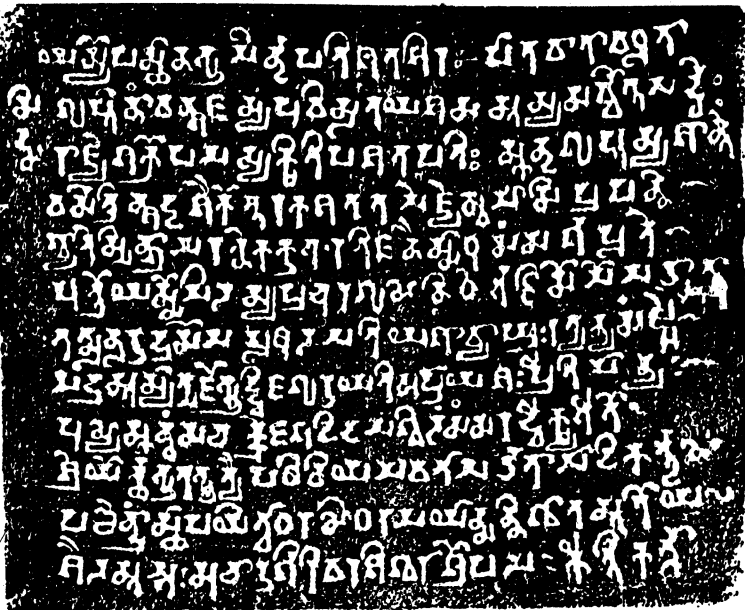
[L.9] He, being alarmed when he observed the whole of this world (*to be ever*) passing through a succession of changes, acquired for himself a large mass of religious merit. (*And by him*), - having set up, for the sake of final beatitude (*and*) for the welfare of (*all*) existing beings; five excellent¹⁵ (*images*) made of stone¹⁶, (of) those who led the way¹⁷ in the path of the *Arhats* who practise religious observances, - there was then planted in the ground this most beautiful pillar of stone, which resembles the tip of the summit of the best of mountains, (*and*) which confers fame (*upon him*).

1. The translation is reprinted in Thomas' edition of Prinsep's *Essays*, Vol. 1, p. 250.
2. The 'Kahaon, Kahong, Kangho and Kuhaon of maps &c. Indian Atlas, Sheet No. 103. Lat. 26°16' N.; Long 83°55' E.
3. The 'Sullempoor-Mujhowlee' of maps.
4. The 'Deorya' of maps.
5. For a full description, with drawings, of the column and other remains at Kahâum, see. *Archaeol. Surv. Ind.* Vol. 1, p. 91, ff. and Plate XXIX, and *id.* Vol. XVI. p. 129 f. and Plate XXIX.
6. From Gen. Cunningham's ink-impression, together with the lithograph from which my lithograph is reduced.
7. In the original, this word is in the margin; the *si* opposite the commencement of line 2, and the *ddham* oposite, and partly above, the commencement of line 3.
8. Metre, Sragdharâ, throughout.
9. The mark in the original after this *visarga* would seem to be an accidental slip of the engraver's tool, rather than intended for a mark of punctuation, which is not required here.
- 10 and 11. In each case, the mark of punctuation is unnecessary.
12. '*sântê*' - It is unnecessary to explain in detail the interpretation of this word. The difficulty is, - not the correct rendering of it, which is perfectly obvious, - but to comprehend how it ever came to be read, *sântêh*, and to be interpreted by "of the repose, i.e. death," i.e. "after the decease (of Skandagupta);" or, being read *sântê* correctly, to comprehend how it ever came to be interpreted as

meaning "(the empire of Skandagupta) being quiescent," or "(the emire of Skandagupta) being extinct (for the hundred and forty-first year)." - The correct interpretatin appears to have been first pointed out by Bhau Daji; "in the year one hundred and forty-one, in the peaceful reign of Skandagupta" (*Jour, Bo Br. R.As. Soc.* Vol. VIII, p. 246.)

13. The proper context is - "(there was) Madra," who is mentioned in line 8. The intervening genealogical matter is by way of a parenthesis.
14. For some similar instances of second names, see page 27 above, note 4.
15. *indrân*. - Bhagwanlal Indraji, in his published version, first pointed out the kind of meaning to be given to this word here.
16. *lit* 'made of (the substance of) mountains'.
17. *âdikartrîn*; *lit.* 'originators.'-Bhagwanlal Indraji first pointed out the correct meaning of this word, as referring here to five of the *Tirthankaras* or sanctified teachers of the Jains.

Plate-9



B.—Indor Plate of Skandagupta.—The Year 146.

Appendix. 8

Select Inscriptions Bearing On Indians History And Civilization Vol.I, 1942, pages 308-10.

No. - 26 Kahâum Stone Pillar Inscription of Skanda Gupta —
Gupta year 141 (=460 A.D.)

KAHĀUM or KAHĀWAM, Gorakhpur Dist., U.P.

Fleet, *Corp. Ins. Ind.*, III, p. 67; BHANDARKAR, LIST, NO. 1278
(For other references).

Language : Sanskrit

Script : Brāhmī of the Northern Class

Metre : Verses 1-3 मग्धरा

TEXT¹

सिद्धम् (॥*)^२

१. यस्योपस्थान-भूमिनृपति-शत-शिरः^३- पात-वातावधूता
२. गुप्तानां वन्शजस्य^४ प्रविसृत-यशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः (१*)
३. राज्ये शक्रोपमस्य जितिप-शत-पतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते^५
४. वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरक-शततमे^६ ज्येष्ठ-मासि प्रपन्ने । (१*)^१
५. ख्याते (S*) स्मिन्ग्राम-रत्ने ककुभ^७ इति जनैस्साधु-संसर्ग-पूते ।^८
६. पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर-गुण-निधेर्भट्टिसोमो महा(त्मा) (१*)
७. तत्सूनू रुद्रसोम (:*) पृथुल-मति-यशा व्याघ्र इत्यन्य-संज्ञो ।^९
८. मद्रस्तस्यात्मजो (S*) भूद्दिद्व ज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः । (१*)^२
९. पुण्य-स्कन्धं स चक्रं जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
१०. श्रोयोत्थं भूत-भूतै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन् (१*)
११. पञ्चेन्द्रा^{१०} स्थापयित्वा धरणिधरमयान्सन्निखातस्ततो (S*) यम्
१२. शैल-स्तम्भः सुचारुर्गिरिवर-शिखराग्रोपमः कीर्त्ति-कर्त्ता (॥*)^३

1. From the facsimile in *Corp. Ins. Ind.*, III,
2. This word stands in the left margin, सि on the level of 1.2, and छम् a little above that of 1.3.
3. There is a sign rescmbling a punctuation mark, which might have been an accidental slip on the part of the engraver.
4. 2 Read वंश°.
5. The word may refer to the fact that Skanda Gupta's reign became peaceful after the early years of struggle. शान्त= undisturbed by enemies, calamities, etc. Of course the *śānti* may have been temporay or local. पते: looks like पति;
6. Read त्रिंशद्दश°. ज्येष्ठ=ज्यैष्ठ.
7. Kakubha is the old name of modern Kahāuīm.
8. The mark of punctuation is superfluous.
9. The mark of punctuation is superfluous.
10. Read पञ्चेन्दान्. The expression is usually translated "five excellent (images)" and referred to the five naked Jaina Tīrthaṅkaras sculptured on the column. *Indira* (lord) may however indicate *Jinendra* (lord of the Jinas) and refer to the five favourite Tīrthaṅkaras viz. Ādināṭh, Śāntināṭha, Nemināṭh, Pārśvanāṭha and Māhavīra. धरणिधरमय = शिलामय. अर्हतां पथि आदि - कर्तृन् (= आदि- पथ-कर्तृन्) those who lead the way in the path of the Arhats. नियम looks like वियम.



Appendix. 9.

The Indians Historical Quarterly, Vol. 28, 1952, page 298-300.

The Kahaum Stone Pillar Inscription of Skandagupta

Kahaum is a village situated in the Salempur tahsil of the Deoria district (formerly Gorakhpur district in the Uttar Pradesh). On the west of the Stone Pillar there is an elevation, obviously the remnant of a brick foundation, indicating that there was a temple here; to the east of the pillar there is a pond, quite regular in construction, which lies between the pillar and the village kahaum; to the south of the pillar, at a distance of about fifty yards, there are broken images of the Jain Tirthankaras placed under improvised brick structures.

The last four lines of the inscription run as follows:

पुणयस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो ।

श्रेयोत्थं भूतभूतै पथि निर्यमवतामर्हतामादिकर्तृन् ॥

पञ्चेन्द्रां (न्द्रान्) स्थापयित्वा धरणिाधरमयान्सन्निमखातस्तंतोऽयम् ।

शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवरशिखरग्रोपमः क्रीर्तकर्ता ॥

Fleet in his *Corpus Inscriptionum Indicarum*. Vol. III (p.68) translated these lines thus:

"(L.9) - He being alarmed when he observed the whole of this world (to be ever) passing through a succession of changes acquired for himself a large mass of religious merit, (and by him) having set up, for the sake of final beatitude (and) for the welfare of (all) existing beings, five excellent (images), made of stone, (of) those who led the way in the path of the *Arhatas* who practice religious observances, - there was then planted in the ground this most beautiful pillar of stone, which resembles the tip of the summit of the best of mountains, (and) which confers fame upon him."

The above-quoted translation is literally correct. But in his prefatory note, by way of explanation, referring to the sculptures on the column, he writes. "Of the sculptures on the column, the most important are five standing naked figures - one in a niche on the western face of the square base; and one in a niche on each side of the square block-immediately below the circular stone with an iron spike in it; which, the original pinnacle having been lost, now forms the top of the column. As appears to have been first fully recognize by Dr. Bhagwanlal Indraji, these are distinctly Jain images. He suggested that they represent five well known *Tirthankaras* - Ādinātha, Śāntinātha, Neminātha, Pārśva and Mahāvīra. And they are in all probability the five images of *Ādikartris*, or Jain *Tirthankaras*, referred to in the inscription itself. "

Dr. Bhagwanlal Indraji and Flect both, supposing the pillar to be a solitary monument, were of the opinion that the five images mentioned in the inscription refer to the five representations on the column itself. This opinion, however, does not seem to be correct. For correct explanation and interpretation of the inscription two factors are decisive: - (1) the internal evidence of the inscription and (2) the topography of the pillar.

(1) There are two significant words in the inscription: - (i) *sthāpayitvā* (having installed) and (ii) *dharaṇīdharamāya* (*made of stone*). *Sthāpana* or installation is a technical term which means ceremoniously placing an image (an icon or idol) in a shrine and not mere carving a representation on the surface of a stone piece. The term '*dharaṇīdharamāya*' clearly indicates that the images were made of stone (in round and independent) and not on stone; the carving on the pillar contain only representations of them. Now the question is: where are those independent

images of the *Tīrthaṅkaras*? The answer to this question is given by the topography of the pillar.

(2) The topography of the pillar consists, as already observed, of an elevation evidently indicative of a temple, an extensive pond and broken pieces of images assembled under improvised brick structures. Obviously there was originally a temple to the west of the pillar in which the five images mentioned in the inscription were installed. There is no doubt that the images assembled under improvised sheds are Jain images. Unfortunately all the broken pieces are not available and in their absence it is not possible to identify the five *Tīrthaṅkaras* whose images were installed in the original temple; but it is certain that the broken pieces are the remnants of the original idols installed in the temple.

One more fact is worth consideration. Generally pillars were erected before the temples. They bear either the effigies of the conveyances (*vāhanas*) of the deities (in the case of Brāhmanical temples) on some symbols or emblems peculiar to religious sects; in some cases they were *dīpastambhas* and bore niches for lamps. Most probably the pillar under consideration was one of such pillars. It was erected before a temple, facing towards the east, and it bore the representations of the images installed in the temple and symbol or emblem which constituted the pinnacle now missing.

In the circumstances the conclusion is strongly suggested that *pañce Indras* and *ādikartris* refer to the full-fledged stone idols originally installed in the temple which was built to the west of the pillar and not to the representations on the pillar.

R.B. PANDEY



परिशिष्ट - १०

जैन शिलालेख संग्रह :, भाग २ १९५२, पृष्ठ ५९

कहायूँका लेख

६३

कहायूँ-संस्कृत

(गुप्तकाल १४१ वां वर्ष = ४६१ ई०सं०)

सिद्धम् ।

- (१) यस्योपस्थानभूमिर्नृपतिशतशिरःपातवातावधूता
- (२) गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धः
- (३) राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
- (४) वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकशततमे जयेष्टमासि प्रपन्ने ॥११॥
- (५) ख्यातेऽस्मिन् ग्रामरत्ने ककुभ इति जनैसाधुसंसर्गपूते
- (६) पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुरगुणनिधेर्भट्टिसोमो महात्मा
- (७) तत्सूनुरुद्रसोम (:) प्रथुलमतियशा व्याघ्र इत्यन्यसंज्ञो
- (८) मद्रस्तस्यात्मजोऽभूद् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान् यः ॥
- (९) पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरंद्दीक्ष्य भीतो
- (१०) श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन्
- (११) पञ्चेन्द्रांस्थापयित्वा धरणिधरमयान् सन्निखातस्ततोऽयम्
- (१२) शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवरशिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता ॥३॥

(इस शिलालेखमें, जो कि गुप्तकाल के १४१ वें वर्ष का है, बताया गया है कि किसी भद्र नाम के व्यक्ति ने, जिसकी कि वंशावली यहां उसके प्रपितामह सोमिल तक गिनाई है, अर्हन्तो (तीर्थंकरों) में मुख्य समझे जाने वाले, अर्थात् आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व, और महावीर, इन पांचों की प्रतिमाओं की स्थाना करके इस स्तम्भको खड़ा किया। लेखकी ११ वीं पंक्ति के 'पञ्चेन्द्रान्' से इन्हीं पांच तीर्थंकरों से मतलब है।)

(इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १०, पृ० १२५-१२६)



परिशिष्ट-११

भारत के दिग्म्बर जैन तीर्थ, भाग-१, बम्बई, १९७४, पृष्ठ १७३-७५, चित्र ६०

ककुभग्राम

मार्ग

ककुभ ग्राम वर्तमान में 'कहाऊँ' गाँव के नाम से प्रसिद्ध है। यह देवरिया जिले में परगना सलेमपुर से ५ कि.मी., काकन्दी से १६ कि.मी. और गोरखपुर से ७३ कि.मी. की दूरीपर है। काकन्दी से यहाँ तक का मार्ग कच्चा है। बस और जीप जा सकती है। यह एक छोटा सा गाँव है, जो ईंटों के खण्डहरों पर बसा हुआ है। जिस टीले पर यह गाँव आबाद है, वह लगभग आठ सौ वर्ग गज है।

तीर्थक्षेत्र

भगवान् पुष्पदन्तकी जन्मभूमि काकन्दी यहाँ से केवल १६ कि.मी. दूर है। पहले यहाँ ग्राम नहीं था, वन था, जो काकन्दी नगरी के बाहर था। भगवान् पुष्पदन्त ने काकन्दी के इसी वन में दीक्षा ली थी। उस वन में कुटज जाति के वृक्ष अधिक थे। सारा वन उनके पुष्पों से मुखरित और सुरभित रहता था। उन्होंने पौष शुक्ला ११ को इस वन में दीक्षा ली थी। इस ऋतु में वन चारों ओर पुष्पित था। कुटज जाति के वृक्षों के अतिरिक्त इस वन में अर्जुन के वृक्ष अधिक संख्या में थे। इसलिए इस वन को 'कुकुभ' वन' कहा जाता था। देवों, इन्द्रों और मनुष्यों ने यहीं पर भगवान् का दीक्षाकल्याणक मनाया था। इसके चार वर्ष पश्चात् इसी वन में कार्तिक शुक्ला तृतीया को केवलज्ञान हुआ। यहीं प्रथम समवसरण लगा और यहीं धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ। अतः भक्त जनता में यह तीर्थक्षेत्र के रूप में प्रख्यात हो गया। पश्चात् इस वन के स्थान में ग्राम बस गया और वह कुकुभ वन के नाम पर ककुभग्राम कहलाने लगा।

यहाँ भगवान् महावीर का शी समवसरण आया था। जब भी भगवान् का विहार वैशाली से श्रावस्ती की ओर हाता था तो मार्ग में इस स्थान पर भी पधारते थे। इसी प्रकार वैशाली से विहार करते हुए भगवान् काकन्दी, ककुभग्राम होते हुए श्रावस्ती जाते थे। यह नगर श्रावस्ती से सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, हस्तिग्राम, मण्डग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा राजमार्ग पर था।

पूर्वी भारत के इस महत्त्वपूर्ण राजमार्ग पर अवस्थित होने के कारण नगर की समृद्धि भी निरन्तर बढ़ रही थी। देश-विदेश के सार्थवाह बराबर आते-जाते रहते थे। भगवान् पुष्पदन्त का दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक का स्थान होने के कारण सुदूर देशों के भी यात्री यहाँ तीर्थ वन्दना को आते रहते थे। इसलिए अति प्राचीन काल

से ही यहाँ जैनमन्दिर, मानस्तम्भ और स्तूपों का निर्माण होने लगा था। मौर्य और गुप्तकाल में इस प्रकार के निर्माण विपुल परिमाण में यहाँ हुए। फिर पता नहीं किस काल में किस कारण से इन प्राचीन धर्मायतनों और कलाकृतियों का आकस्मिक विनाश हो गया। सम्भवतः श्रावस्ती आदि निकटवर्ती तीर्थों की तरह सुल्तान अलाउद्दीन के सिपहसालार मालिक हव्वस ने इसका भी विनाश कर दिया और इसे खण्डहर बना दिया। इसके बाद इसका फिर पुनरुद्धार नहीं हो पाया। इन धर्मायतनों के भग्नावशेषों पर एक छोटे-से गाँव का निर्माण अवश्य हो गया। गाँव के पुनर्निर्माण के समान इसके नाम का भी पुनर्निर्माण हो गया और ककुभग्राम ही बदलते-बदलते कहाऊँ बन गया।

ये अवशेष काफी बड़े क्षेत्र में बिखरे पड़े हैं। एक टूटे-फूटे कमरे में, जिसके ऊपर छत नहीं है, एक दीवाल में आलमारी बनी हुई है। उसमें ५ फुट ऊँची सिलेटी वर्ण की तीर्थंकर प्रतिमा कायोत्सर्गासन में अवस्थित है। प्रतिमा का एक हाथ कुहनी से खण्डित है। दोनों पैर खण्डित हैं। बाँह और पेट क्रेक हैं। छाती से नीचे पेट का भाग काफी घिस गया है। मुख ठीक है।

ग्रामीण लोग तेल-पानी से इसका अभिषेक करते हैं।

इस कमरे के बाहर एक भग्न चबूतरे पर एक मूर्ति पड़ी हुई है। यह तीर्थंकर मूर्ति है। रंग सिलेटी है तथा अवगाहना ४ फुट के लगभग है। यह खड्गासन है। यह अतनी घिस चुकी है कि इसका मुख तक पता नहीं चलता। मूर्ति-पाषाण में परतें निकले लगी हैं।

इन मूर्तियों से उत्तर दिशा में गाँव की ओर बढ़ने पर प्राचीन मानस्तम्भ मिलता है। यह एक खुले मैदान में अवस्थित है। इसके चारों ओर प्राचीन भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। यदि यहाँ खुदाई करायी जाये तो भगवान् पुष्पदन्त का प्राचीन जैनमन्दिर निकलने की सम्भावना है क्योंकि मानस्तम्भ सदा मन्दिर के सामने रहता है। यदि यहाँ जैन मन्दिर निकल सका तो उससे गुप्त काल की कला और इतिहास पर नया प्रकाश पड़ सकता है।

मानस्तम्भ भूरे पाषाण का है और २४ फुट ऊँचा है। स्तम्भ नीचे चौपहलू बीच में अठ पहलू और ऊपर सोलह पहलू है। जमीन से सवा दो फुट ऊपर भगवान् पार्श्वनाथ की सवा दो फुट अवगाहनावाली प्रतिमा उसी पाषाणस्तम्भ में उकेरी हुई है। यह पश्चिम दिशा में है। चारणों के दोनों ओर भक्त स्त्री-पुरुष हाथों में कलश लिये चारणों का प्रक्षालन कर रहे हैं। मूर्ति के पीठ के पीछे सर्प-कुण्डली बनी हुई है और सिरके ऊपर फणमण्डप है।

स्तम्भ के मध्य में, बारह पंक्तियों में, उत्तर दिशा की ओर ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है, जो इस प्रकार है-

१. यस्योपस्थानभूमिर्नृपतिशतशिरःपातवातावधूता
२. गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः।
३. राजेय शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
४. वर्षे त्रिंशद्दशकोत्तरकशततमें ज्येष्ठमासि प्रपन्ने॥११॥
५. ख्यातेऽस्मिन् ग्रामरत्ने ककुभ इति जनैस्साधुसंसर्गपूते
६. पुत्रा यस्सोमिलस्य प्रचुरगुणनिधेर्भट्टिसोमो महात्मा
७. तत्सूनू रुद्रसोम (:) प्रथुलमतियशा व्याघ्र इत्यन्यसंज्ञो
८. मद्रस्तस्यात्मजोऽभूद् द्विजगुरुयतिषु प्रायशःप्रीतिमान् यः॥१२॥
९. पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
१०. श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवातामर्हतामादिकर्तृन्
११. पर्वेन्द्रान्स्थापयित्वा धरणिधरमयान् सन्निखतस्ततोऽयम्
१२. शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवरशिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता॥१३॥

(इस शिलालेख में, जो कि गुप्तकाल के १४१वे वर्ष का है, बताया गया है कि किसी मद्र नाम के व्यक्ति ने, जिसकी वंशावलि यहाँ उसके प्रपितामह सोमिल तक गिनायी है, अर्हन्तों (तीर्थकरों) में मुख्य समझे जाने वाले, अर्थात् आदिनाथ, शन्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर, इन पाँचों की प्रतिमाओं की स्थापना करके इस स्तम्भ को खड़ा किया। लेख की ११वीं पंक्ति के 'पंचेन्द्रान्' शब्द का इन्हीं पाँच तीर्थकरों से मतलब है।)

-इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १० पृष्ठ १२५-१२६

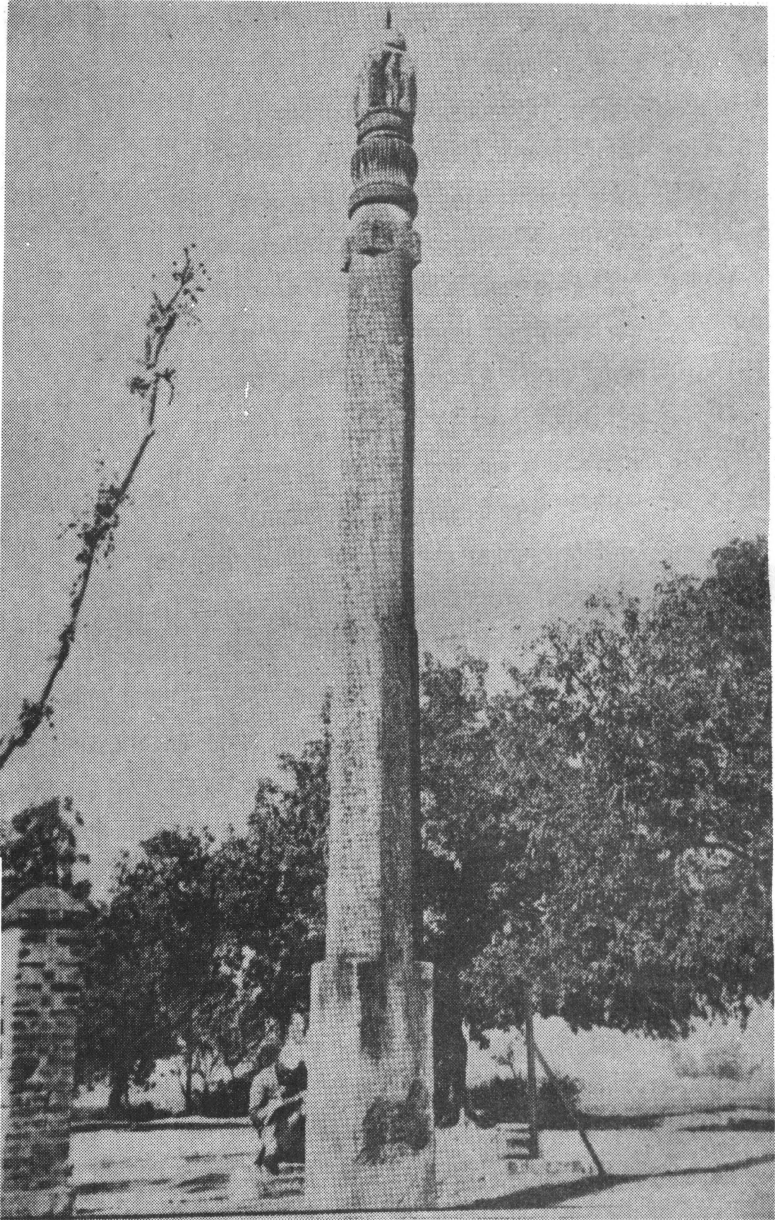
-जैन-शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ ५६।

स्तम्भ के ऊपर चौकी बनी हुई है। उसके ऊपर पाँच तीर्थकरों-आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

ब्राह्मी लेख के अनुसार इस मानस्तम्भ का निर्माण एवं प्रतिष्ठा जैन धर्मानुयायी मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त संवत् १४१ (ई० सन् ४६०) में सम्राट् स्कन्दगुप्त के काल में करायी थी।

ग्रामीण लोग अज्ञानतावश उस मानस्तम्भ को 'भीमकी छड़ी' या 'भीमसेन की लाट' कहते हैं और दही-सिन्दूर से इसकी पूजा करते हैं। इसके कारण नीचे के भी भाग में बनी हुई पार्श्वनाथ प्रतिमा काफी विरूप हो गयी है।

१. ककुभ का अर्थ है, कटुज जाति के पुष्प, अर्जुन वृक्ष (हिन्दी विश्वकोष)।



६०. ककुभग्राम (कहाऊँ) में गुप्त कालीन मानस्तम्भ। शीर्ष पर ८ जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

Appendix. 12

Archaeological Survey of India., *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III Inscriptions of the early Gupta Kings, New Delhi, 1981, pages 305-308, plate 29.

Note : This is a revised edition of corpus Inscriptinum Indicanum by John Faithfull Fleet, Vol. 3, 1888, Page 65-68 (reproduced in this book erlier). This revision is being done by Devdatta Ramakrishna Bhandarkar. The text is more or less the same as of John Faithfull Fleet. However translation is different which is reproduced here.

Translation

Luck !

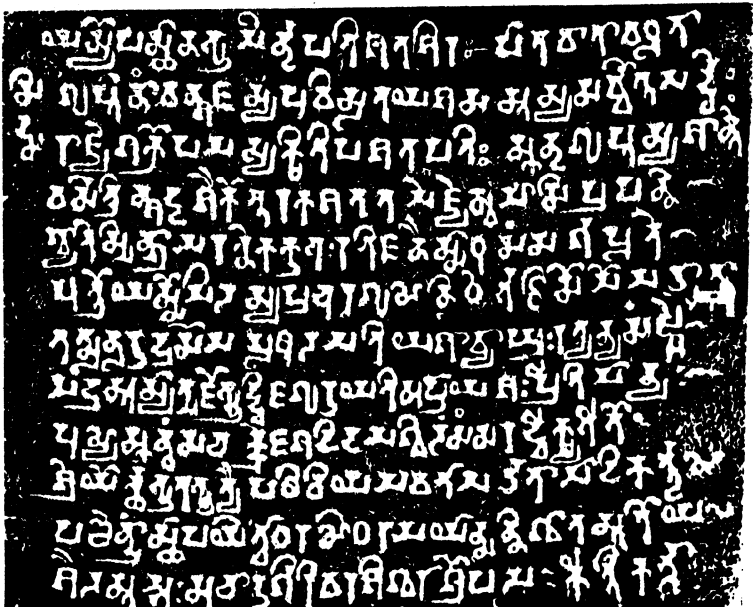
(Verse 1) In the peaceful¹ reign of **Skandagupta**, whose hall of audience is fanned by the breezes cause by the throwing down (at his feet) of the heads of hundreds of kings; who is born in the lineage of the **Guptas**; whose fame is spread (far and wide); who is of supreme greatness; (and) who resembles (the god) **Śakra**, being the lord of a hundred Kings;- in the 141st year, the month, **Jyeshṭha** having arrived;

(Verse 2) In this jewel of a village named by the people as **Kakubha**, (and) purified by the intercourse of holy men, - (there was) the great-souled **Bhaṭṭisōma**, who (was) the son of **Sōmila**, the receptacle of many good qualities; his son (was) **Rudrasōma**, of great intellect and fame, who had the other appellation of **Vyāghra**². His son was **Madra**, who (was) exceedingly affectionate towards **Brāhmaṇas**, religious preceptors and ascetics.

(Verse 3) Observing and being alarmed that this whole world is evanescent, he acquired a mass of religious merit; and for (his own) bliss and for the welfare of (all) existing beings, having established, of stone, the five lords³ who were originators (*ādikarṭris*)⁴ in the path of the *Arhats* who practise restraint of mind, (he) thereupon planted (in the ground) this

exceedingly beautiful and fame-contributing pillar of stone which resembles the tip of the summit of the chief of mountains.

1. *Śāntē* : It is unnecessary to explain in detail the interpretation of this word. The difficulty is, as Fleet correctly remarks, not the correct rendering of it, which is perfectly obvious, but to comprehend how it ever came to be read *śāntēh*, and to be interpreted by "of the repose, i.e., death" i.e. "after the decease (of Skandagupta);" or, being read *śāntē* correctly, to comprehend how it ever came to be interpreted as meaning "(the empire of Skandagupta) being quiescent," or "(the empire of Skandagupta) being extinct (for the hundred and forty-first year)." The correct interpretation appears to have been first pointed out by Bhau Daji; "in the year one hundred and forty-one, in the peaceful reign of Skandagupta" (*JBBRAS.*, Vol. VIII, p. 246.)
2. For some similar instances of second names, see page 254 above, note 3.
3. *Indrān* Bhagwantal Indrajī, in his published version, first pointed out the kind of meaning to be given to this word here (*Ind. Ant.*, Vol. X, p. 126).
4. *Ādikarṭrin* : lit. 'originaors.' Bhagwanlal Indrajī first pointed out the correct meaning of this word, as referring here to five of the Tirthankaras or sanctified teachers of the Jainas (*Ind. Ant.*, Vol. X. p. 126 and note 16). See also *SBE.*, Vol. XXII, pp. 224-25.



KAHĀUM STONE PILLAR INSCRIPTION OF SKANDAGUPTA: THE YEAR 141 PLATE XXIX

परिशिष्ट-१३

प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (गुप्त काल ३१६-५४३ ई०) परमेश्वरि लाल गुप्ता, भाग-२, १६६६, पृष्ठ १४६-४७

३७. कहाँव स्तम्भ-लेख, वर्ष १४१

परिचय

देवरिया (उत्तर प्रदेश) जिले के अन्तर्गत सलेमपुर-मझौली से पाँच मील पर स्थित कहाँव ग्राम में स्थापित एक स्तम्भ पर, जिस पर पाँच तीर्थकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, यह लेख अंकित है। लेख स्तम्भ के बीच के अठपहल भाग के तीन ओर २ फुट २।। इंच x १ फुट ८ इंच के घेरे में है।

उत्तर प्रदेश का सर्वक्षण करते समय १८०६ और १८१६ ई० के बीच फ्रांसिसबुकानन (हेमिलटन) ने इस लेख को देखा था। इसका उल्लेख उन्होंने अपनी उस रिपोर्ट में किया है जिसे उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालक मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत किया था। इस हस्तलिखित रिपोर्ट के आधार पर १८३८ ई० में माण्टगोमरी मार्टिन ने अपनी पुस्तक 'ईस्टर्न इण्डिया' में इस लेख का उल्लेख किया और उसकी छाप प्रकाशित की। उसी वर्ष जेम्स प्रिंसेप ने भी अंगरेजी अनुवाद सहित इसका पाठ प्रकाशित किया। १८६० ई० में फिट्ज एडवर्ड हाल ने इसके प्रथम श्लोक को अनुवाद सहित प्रकाशित किया। १८७१ ई० में कनिंगहम ने और १८८१ ई० में भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने पाठ प्रकाशित किये। फिर फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।

पाठ

भाषा : संस्कृत।

लिपि : ब्राह्मी (उत्तरवर्ती)

१. सिद्धू(म्) (१)

यस्योपस्थान भूमिर्नृपति-शत-शिरः-पात-वातावर्धृता

२. गुप्तानां वन्शजस्य प्रविसृत-यशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धः (१)
३. राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिप-शत-पतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
४. वर्षे त्रिन्शद्दशैकोत्तरक-शततमे ज्येष्ठ-मासि प्रपन्ने (१११)
५. ख्याते (५) स्मिन्ग्राम-रत्ने ककुभ इति जनैस्साधु-संसर्ग-पूते (१)
६. पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर-गुण-निधेर्भट्टिसोमो महा(त्मा), (१)
७. तत्सुनू रुद्रसोमः पृथुल-मति-यशा व्याघ्र इत्यन्य-संज्ञो।
८. मद्रस्तस्यात्मजो (५) भूद्धिज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः (११२)
९. पुण्य-स्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
१०. श्रोयोर्त्थं भूत-भूतै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन् (१)
११. पञ्चेन्द्रां स्थापयित्वा धरणिधरमयान्सन्निखातस्ततोऽयम्
१२. शैल-स्तम्भः सुचारुगिरिवर-शिखराग्रोपमः कीर्ति कर्ता (११३)

अनुवाद

सिद्धम्। जिसकी उपस्थान-भूमि शत नृपतियों के सिर झुकाने से उत्पन्न वायु से हिल उठती है, जिसका वंश गुप्त है, जिसका यश जगत्-विख्यात है, जो समृद्धि में सर्वोत्तम है, जो शक्रोपम (इन्द्र-तुल्य) है, जो शत क्षितिपति है उस स्कन्दगुप्त के शान्ति (पूर्ण शासन के) वर्ष एक सौ एकतालीस का यह ज्येष्ठ मास। गाँव का यह रत्न ककुभ नाम से प्रख्यात है और साधु-संसर्ग से पवित्र है। इस ग्राम में सोमिल का पुत्र प्रचुर-गुणनिधि महात्मा भद्रिसोम हुआ। उसका पुत्र प्रथुल-मति और यशवाला रुद्रसोम हुआ, जिसे लोग व्याघ्र नाम से भी पुकारते थे। उसका पुत्र मद्र हुआ, वह ब्राह्मणों, गुरुजनों और सधु-संतों के प्रति श्रद्धाभाव रखता था। यह देखकर कि यह संसार सतत परिवर्तनशील है, भयभीत होकर उसने अपने लिए अधिकाधिक पुण्य बटोरने का प्रयास किया। (और) समस्त जगत् के हितार्थ अर्हत पद के आदि कर्ता पाँच इन्द्रो (जितेन्द्रो) की मूर्तियाँ उत्कीर्ण कराकर इस शैल-स्तम्भ को भूमि पर खड़ा किया जा हिमालय की चोटी की तरह दिखाई देता है।

टिप्पणी

यह लेख उस शैल-स्तम्भ के स्थापना की घोषणा है, जिस पर वह अंकित है। इस स्तम्भ के शीर्ष पर एक तथा चौपहल तल के चारों ओर एक-एक तीर्थकर की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये हैं-आदिनाथ शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर।

इस लेख से ज्ञात होता है कि कहाँ ग्राम का, जहाँ यह स्तम्भ है, प्रचीन नाम कुकुभ था।

इस लेख की पंक्ति ३-४ में आये स्कन्दगुप्तस्य शान्ते वर्षे का तात्पर्य अनेक विद्वानों ने स्कन्दगुप्त के शान्त (मृत्यु) होने के पश्चात् अथवा स्कन्दगुप्त का (साम्राज्य) शान्त (समाप्त) होने पर लिया था और इसे उसके मृत्युपरान्त अथवा उसके शासन के समाप्त होने के बाद का लेख अनुमान किया था। किन्तु भाऊ दाजी ने इसे स्कन्दगुप्त के शान्तिपूर्ण शासनकाल के अर्थ में ग्रहण किया और उसका अनुमोदन फ्लीट ने भी किया। यही अर्थ संगत भी है।

इस लेख में अन्य कुछ ऐसा नहीं है, जिसकी किसी प्रकार की कोई विस्तृत चर्चा की जाय।

सन्दर्भ

माण्टगोमरी मार्टीन	ईस्टर्न इण्डिया, २ (१८२८), पृ० ३६६।
जेम्स प्रिंसेप	जर्नल बंगाल एसियाटिक सोसाइटी, ७ (१८२८), पृ० ३७।
फिट्ज एडवर्ड हाल	जर्नल, अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, ६ (१८६०), पृ० ५३०।
	जर्नल, बंगाल एसियाटिक सोसाइटी, ३० पृ० ३।
कनिंगहम	आक्र्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १ (१८७१), पृ० ६३।
भगवानलाल इन्द्रजी	इण्डियन एण्टीक्वैरी, १० (१८८१), पृ० २२५।
फ्लीट	कार्पस इन्स्कृषानम् इण्डिकेरम् ३ पृ० ६५।
राजबली पाण्डेय	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २८ (१९५२), पृ० २६८।
दिनेशचन्द्र सरकार	सेलेक्ट इन्स्कृषान्स, पृ० २१६-१७।
भण्डारकर	इस्कृषान्स आव द अर्ली गुप्त किंग्स, पृ० ३०५-३०८।

Appendix. 14

The Cave Temples of India by James Fergusson and James Burgess, 1880, reprint Delhi 1969, page 497, Plate 80, 81.

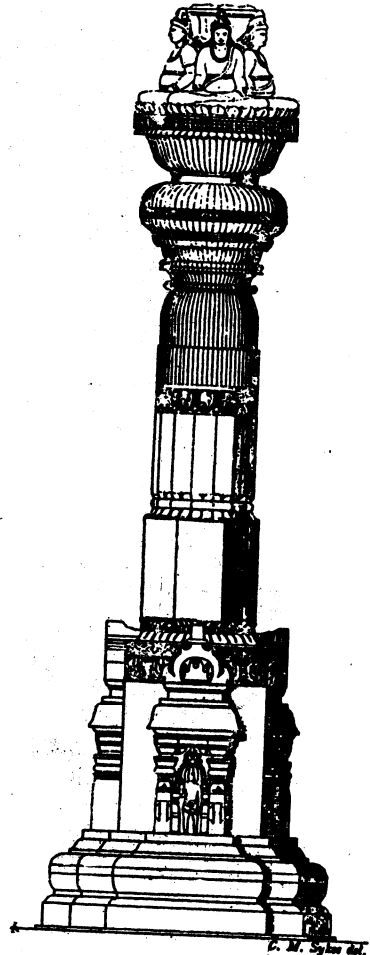
Indra Sabha - Elura

Entering the court; on the right side is a large elephant on a pedestal, and on the left stood a fine monolithic column 27 feet 4 inches high, with a quadruple or *chaumukha* image on the top (see Plate LXXX., fig.2), but it fell over against the rock the day after Lord Northbrook visited the caves. In the centre of the court is a pavilion or *mandapa* over a quadruple image, - either of Rishabanâtha, the first of the twenty-four Tîthanâkaras, or of mahâvîra, the last¹; the throne is supported by a wheel and lions, as in Buddhist temples. The style of the pavilion and of the gateway leading into the court is nearly as essentially Dravidian as the Kailâsa itself, and so very unlike anything else of the kind in

ELURÂ.

Plate. LXXX.

2. INDRÂ SABHA. MONOLITHIC COLUMN.

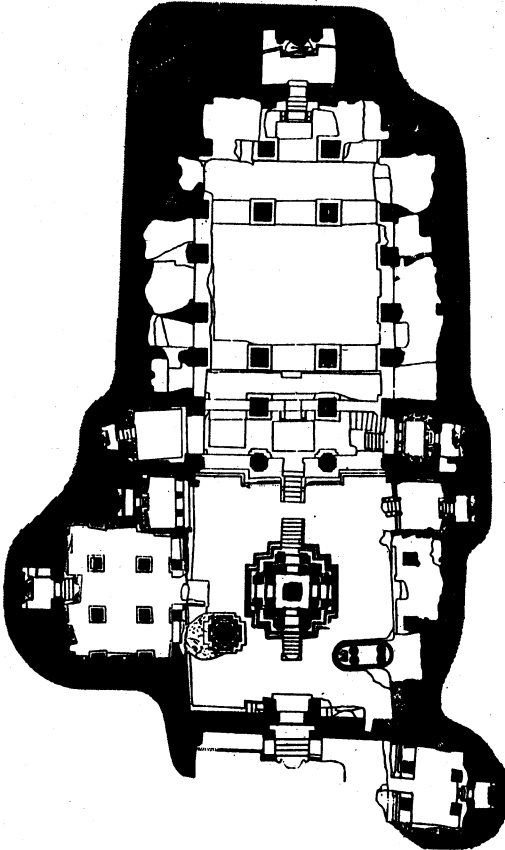


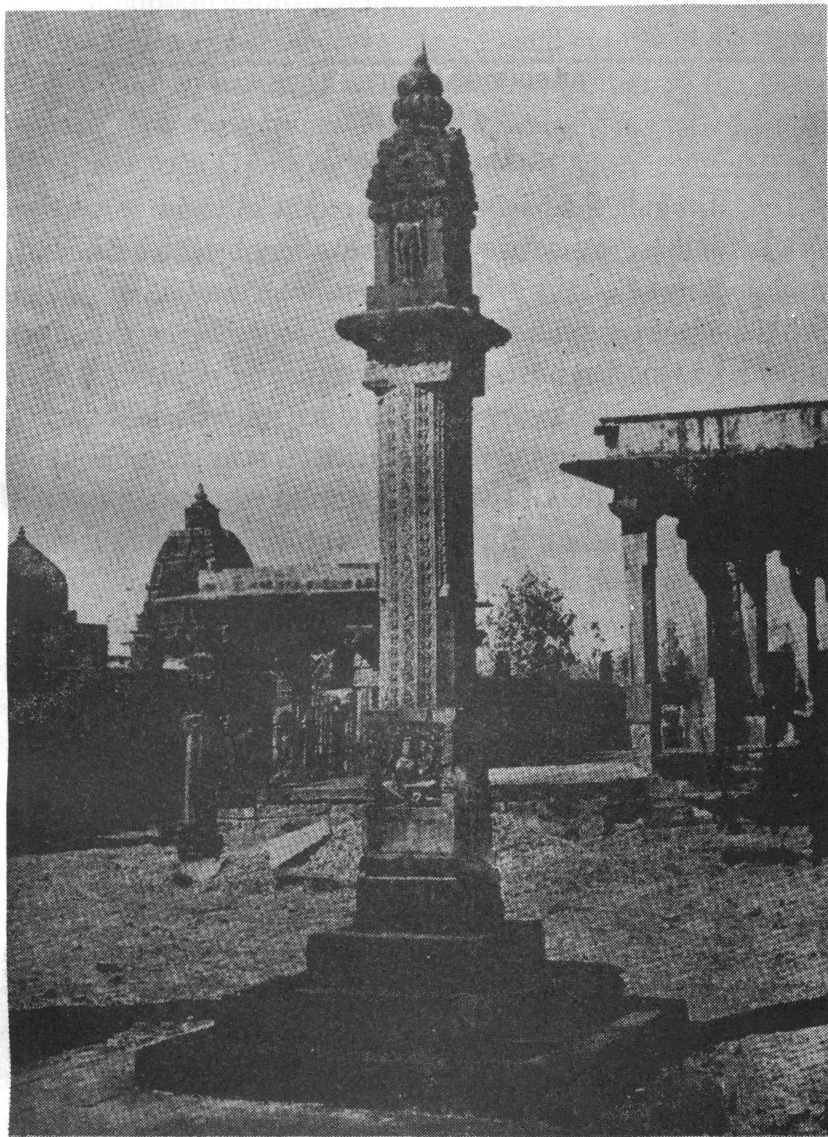
the north of India that it probably was excavated during the supremacy of the Rathors, and is of about the same age as the Jaina cave at Badami. The details, too, of that cave have so marked a similarity to those of the Indra Sabha, that the probability is they all belong to the eighth century.

1. A view of this pavilion, with the entrance doorway or miniature gopura, is given in my *Ind. and East Arch.*, p. 252, woodcut 147.

ELURÁ.
INDRA SABHÁ-LOWER HALL

Plate XXX





६७. देवगढ़—एक जैन मन्दिर के सामने भव्य मानस्तम्भ ।

Appendix. 16

History of Indian and Eastern Architecture by James Fergusson, Vol.I, 1876, Revised and Reprinted in London 1910, pages 56 to 58.

BUDDHISTARCHITECHTURE
CHAPTER II**STAMBHAS OR LÂTS.**

It is not clear whether we ought to claim a wooden origin for these, as we can for all the other objects of Buddhist architecture. Certain it is, however, that the lâts of Asoka, with shafts averaging twelve diameters in height, are much more like wooden posts than any forms derived from stone architecture, and in an age when wooden pillars were certainly employed to support the roofs of halls, it is much more likely that the same material should be employed for the purposes to which these stambhas were applied, than the more intractable material of stone.

The oldest authentic examples of these lâts that we are acquainted with, are those which King Asoka set up in the twenty-seventh year after his consecration- the thirty-first of his reign - to bear inscriptions conveying to his subjects the leading doctrines of the new religion he had adopted. The rock-cut edicts of the same king are dated in his twelfth year, and convey in a less condensed form the same information - Buddhism without Buddha - but inculcating respect to parents and priests, kindness and charity to all men, and, above all, tenderness towards animal life.

The best known of these lâts is that removed from Topra in Ambâla district, and set up in 1356, by Fîroz Shâh Tughlak, in his Kotila at Delhi, without, however, his being in the least aware of the original purpose for which it was erected, or the contents of the inscription. A fragment of a second was found

lying on the ridge, north of Delhi, where it had been set up by Firoz Shâh, in his hunting lodge; and was re-erected in 1867. Two other exist in Champâran district at Radhia, and Mâthia, and a fragment of another was recognized - utilized as a roller for the station roads by an utilitarian member of the Civil Service. The most complete shaft, however, is that which in 1837, was found lying on the ground in the fort at Allahabad, and then re-erected with a pedestal, from a design by Captain Smith. This pillar is more than usually interesting, as in addition to the Asoka inscriptions it contains one by Samudragupta (A.d. 380 to 400), detailing the glories of his reign, and the great deeds of his ancestors. It seems again to have been thrown down and was re-erected, as a Persian inscription tells us, by Jahângir (A.D. 1605), to commemorate his accession. It is represented without the pedestal (Woodcut No.4). The shaft, it will be observed is more than 3 feet wide at the base, diminishing to 2 feet 2 inches at the summit, which in a length of 33 feet looks more like the tapering of the stem of a tree - a deodar pine, for instance - than anything designed in stone. Like all the others of this class, this lât has lost its crowning ornament, which probably was a Buddhist emblem - a wheel or the triratna ornament - but the necking still remains (Woodcut No.5), and is almost a literal copy of the honeysuckle ornament we are so familiar with as used by the Greeks with the Ionic order. In this instance, however, it is hardly probable that it was introduced direct by the Greeks, but is more likely to have been borrowed, through Persia, from Assyria, whence the Greeks also originally obtained it. The honeysuckle ornament, again, occurs as the crowning member of a pillar at Sankisâ, in the Doâb, half-way between Mathurâ and Kanauj (Woodcut No. 6), and this time surmounting a capital of so essentially Persepolitan a type, that there can be

little doubt that the design of the whole capital came from Persia. This pillar, of which the greater part of the shaft is lost, is surmounted by an elephant, but so mutilated that even in the 7th century the Chinese traveler Hiuen Tsiang mistook it for a lion, if this is indeed the effigy he was looking at, as General Cunningham supposes, which however, is by no means so clear as might at first sight appear.

Another capital of similar nature to that last described crowns the Lauriyâ Navandgarh lât in Champâran - this time surmounted by a lion of bold and good design (Woodcut No. 7). In this instance, however, the honeysuckle ornament is replaced by the more purely Buddhist ornament of a flock of the sacred hansas or geese. In both instances there are cable ornaments used as neckings, and the bead and reel so familiar to the student of classical art. The last named form is also, however, found at Persepolis. These features it may be remarked are only found on the lâts of Asoka, and are never seen afterwards in India, though common in Gandhâra and on the Indus for long afterwards, which seems a tolerably clear indication that it was from Persia that he obtained those hints which in India led to the conversion of wooden architecture into stone. After his death, these classical features disappear, and wooden forms resume their sway, though the Persian form of capital long retained its position in Indian art. Whatever the Hindûs copied, however, was changed, in the course of time, by decorative additions and modifications, in accordance with their own tastes.



परिशिष्ट-१७

तीर्थ बंदना अप्रैल, २००१, पृष्ठ ४-५

जैन धर्म का प्राचीन गौरव

कहांव का स्तंभ

स्तम्भ पर अटूटकित अभिलेख इतिहास संरचना के लिए अति महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इतिहासकार साहित्यिक साक्ष्यों की अपेक्षा अभिलेख साक्ष्य को अधिक वस्तुनिष्ठ मानते हैं। भारत में स्तम्भ पर अभिलेख लिखवाने का क्रम मौर्यवंशीय सम्राट अशोक ने प्रारंभ किया था। जिसे कालांतर में गुप्तवंशीय शासकों ने भी जारी रखा। पूर्वी उत्तर प्रदेश से ऐसे अभिलेख अल्प ही मिले हैं, उसी में से एक अभिलेख कहांव का है। जिसे विशेषज्ञ गुप्तवंश के प्रतापी शासक स्कंदगुप्त का मानते हैं। कहांव नामक यह ग्राम जहां यह स्तंभ स्थित है, वर्तमान में उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के सलेमपुर तहसील के अंतर्गत आता है। बरठा चौराहे से खुखुन्दू आने वाली सड़क पर करीब आधा किलोमीटर आगे यह गांव पड़ता है। अभिलेख में इसे 'ककुभ ग्राम' कहा गया है। प्रसिद्ध इतिहासविद् परमेश्वरीलाल गुप्त की पुस्तक प्राचीन भारत के अभिलेख भाग दो के अनुसार सर्वप्रथम सन् १८१६ ई० के बीच उत्तर प्रदेश का सर्वेक्षण करते हुए फ्रांसीसी बुकानन ने इस लेख को देखा था। इनकी रिपोर्ट के आधार पर १८३८ ई. में माण्टगोमरी मार्टिन ने अपनी पुस्तक 'इस्टर्न इंडिया' में एक लेख लिखा और इसकी छाप प्रकाशित की। इसी वर्ष जेम्स प्रिंसेप ने भी अंग्रेजी अनुवाद सहित इसका पाठ प्रकाशित किया।

सन् १८६० ई. में फिट्ज एडवर्ड हाल ने इसके प्रथम श्लोक को अनुवाद सहित प्रकाशित किया। सन् १८७१ ई. में कनिंघम, १८८१ ई. में भगवान लाल इन्द्र जी ने अपने पाठ प्रकाशित किये और फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।

स्तम्भ २४ फीट ऊँचा है और लेख स्तम्भ के बीच के अठपहल भाग के तीन ओर २ फुट ११ इंच गुणे एक फुट ८ इंच के घेरे में है। स्तम्भ का निर्माण लाल बलुए पत्थर से हुआ है और यह देखने में अशोक के स्तम्भों सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्तम्भ कहीं बाहर निर्मित किया गया और बाद में इसे यहां स्थापित किया गया। स्तम्भ के सबसे ऊपरी हिस्से पर लोहे की छड़ दिखायी देती है जो जंग रहित है, जिससे स्पष्ट होता है कि गुप्त काल में अच्छे किस्म का लोहा प्राप्त होता था।

अशोक के स्तम्भों की भांति इस स्तम्भ पर भी उलटा कमल पुष्प अलंकृत

चौकी का अंकन है। इस स्तम्भ के शीर्ष पर एक तथा चौपहल के चारों ओर जैन तीर्थकरों की प्रतिमा उत्कीर्णित है। जिसमें आदिनाथ, शातिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ हैं। स्तम्भ के निचले भाग में आधार चौकी पर पार्श्वनाथ की मूर्ति का अंकन है।

इस लेख की पंक्ति ३-४ में आये 'स्कंद गुप्त शांति वर्ष' से स्पष्ट है कि अभिलेख के उद्घाटन के समय यानी ४६० ई. में स्कंदगुप्त का शासनकाल शांतिपूर्ण था। इससे यह ध्वनित होता है कि इस समय तक स्कंदगुप्त ने हूणों पर विजय प्राप्त कर ली थी, साथ ही अभिलेख द्वारा यह भी सूचित होता है कि इस समय तक अनेक राजा उनकी अधीनता ही नहीं स्वीकार करते थे वरन् उनके सामंत बन गये थे। स्तम्भ अभिलेख का महत्व इस तथ्य के लिए भी है कि गुप्त सम्राट वैष्णव होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। विशेष रूप से यह क्षेत्र इस काल में जैन मतावलम्बी था। अभिलेश के द्वारा 'ककुभ ग्राम' की महत्ता स्थापित होती है। चिर काल से यह ग्राम विद्वानों के लिए विख्यात था। अभिलेख के द्वारा इस काल के मानवीय संवेदना का ज्ञान भी होता है। मद्र की सर्वकल्याणकारी भावना के तहत ही इस स्तम्भ का स्थापन हुआ था। अध्ययन के द्वारा अभी और कई महत्वपूर्ण सूचनाएं आ सकती हैं, परंतु वर्तमान में स्तम्भ लेख असुरक्षित एवं उपेक्षित है। स्तम्भ पर दरारें दिखने लगी हैं और मूर्तियां भी खंडित हो रही हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गोखपुर मण्डल के अंतर्गत होने के बावजूद भी इस अभिलेख को गोरखपुर विश्वविद्यालय के परास्नातक पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पुरातत्व विभाग एवं गोरखपुर विश्वविद्यालय इस स्तम्भ लेख की सुरक्षा की व्यवस्था करे एवं अभिलेख को पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कर, इसके व्यापक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करे।

स्तम्भ लेख से थोड़ी ही दूरी पर एक आशुनिक जैन मंदिर है। इस मंदिर का निर्माण श्रीमती सोहनी देवी धर्मपतनी हरखचंद सेठी (तिनसुकिया, असम) ने करवाया है। जहां यह मंदिर स्थापित है, वहां अति प्राचीन जैन मंदिर था, परंतु कहांव ग्राम के निवासी इससे अनभिज्ञ थे और मंदिर के गर्भगृह में स्थित ५ फीट ऊंची स्लेटी रंग की जैन प्रतिमा को वे 'सोफा बाबा' कहकर पुकारते थे। मंदिर के संरक्षक भरत कुशवाहा के अनुसार बाद में विद्वानों के आगमन के फलस्वरूप मंदिर एवं मूर्ति की पहचान हो पायी और उसके द्वारा इस मंदिर का निर्माण किया गया। मंदिर के शिलापट्ट के अनुसार जैन धर्म के तीर्थकर पुष्पदंतनाथ को यहीं केवल्य ज्ञान प्राप्त

हुआ था, जिनका जन्म यहां से १६ किमी. दूर खुखुन्दू (काकंदी) में हुआ था।

निर्माण के बाद से यह मंदिर भी उपेक्षित-सा है। इस मंदिर की प्राप्ति एवं स्तम्भ पर भी जैनमूर्ति का अंकन यह साफ इंगित करता है कि यह क्षेत्र दीर्घावधि तक जैन मतावलंबी था।

मंदिर के संरक्षक भरत कुशवाहा के अनुसार मंदिर से थोड़ी दूर पर स्थित पोखरे के पानी के सूख जाने पर उत्खनन कर जब मिट्टी निकाली जाती है तो कई प्राचीन वस्तुएं सामने आती हैं। स्पष्ट है कि व्यापक ज्ञान एवं क्षेत्र की प्राचीनता के लिए यहां पुरातत्व विभाग को ध्यान देना चाहिए।

(राष्ट्रीय सहारा से साभार)



Appendix-18

The Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society vol 8, 1863-64, 1864-65, 1865-66.

**Article III-A Brief Survey of Indian chronology by
Mr. Bháu Dáji**

That latest date of the Valabh kings is 348, *i.e.* A.C. 426, and they appear to me to have been succeeded by Kumáragupta and Skandagupta. Regarding the various errors which have been committed in reading the dates of the Gupta dynasty, it would be waste of time now to dwell upon; but it is clear from the Junágur inscription, where the date is given three times, as well as from the Kuhaon pillar inscription, that Skandagupta flourished from 129 to 141 of the "Guptakála, an era which was established from the foundation of the Gupta dynasty."

Many attempts have been made to decipher and translate correctly the first lines on the Kuhaon pillar, containing the date. The grand source of error has arisen from putting a visarga after the word Śánte (in the peaceful), the visarga not existing in the original Śánte; being an adjective qualifying Rajyé. The correct rendering and translation, I submit is :- "In the month of Jyestha, in the year 141, in the peaceful reign of Skandagupta." The Benares copper-plate grants of Śrī Hastinah are dated in the 163rd year of the Guptakála (Prinsep's Indian Antiquities, by Thomas, Vol. II. page 251), and I have no doubt that the date on Toromána's coins, 187, is from the same era.

When did this era commence ? is a question that cannot be answered with certainty. I am inclined to regard, with Colo-

nel Cunningham, A.C. 318, as the commencement of the Guptakála. I have a Jaina manuscript which is dated in the 772nd year of the Guptakála, but unfortunately the corresponding Vikrama or Sáliváhana's year is not given, nor is it possible at present to ascertain the exact date of the author from other sources. It is remarkable, that A.C. 318 is equal to 78+240, *i.e.* the era commences four cycles of 60 after the Sakanripakála. The principal, and I may say the only authority for the Guptakála, is Albiruni, who says, that the era of the Guptas begins with the 241st year of the era of the Śakas. For my own part, I am not disposed to place implicit reliance on Albiruni, who blunders frequently in his facts and dates; not so much perhaps from want of zeal or ability, as from carelessness and imperfect knowledge of his informants.

We have the following dates for the Gupta kings :-

Chandragupta I.

Samudragupta.

Chandragupta II..... 82-93 Guptakála.

Kumáragupta 90+?-121 Guptakála

Skandagupta 138-141 ,

Bakragupta,

Devagupta.

Budhagupta..... 165-180.

Appendix-19

Journal of the Asiatic Society

Of Bengal Vol 43, Part 1, 1874, Page 368-375

Rājendralāla Mitra-On Skanda Gupta Inscription

To argue upon such a passage and to torture other documents to conform to it is by no means commendable. Had it been otherwise, still the argument that a love of euphemism, or a desire to avoid "the hazard of popular prejudice" had led to the use of *śānta* and *bhukta* in the inscriptions would appear futile at best. Instead of its not being "singular," it would be in the last degree singular "that a direct encomium should be bestowed on a potentate" who, "however truculently he may have once lorded it, had become dust and ashes for nearly a century and a half." As "to impulses of family pride" the family being extinct for so long a time, there was none to be guided by such impulses, and it would no doubt be a most extraordinary phenomenon in political history, if popular prejudice could be irritated by calling a king, however great or popular he might have been when living, dead a hundred and forty-one years after the the extermination of his dynasty. To use Mr. Hall's language, "the idea would be preposterous."

The Arabic authority, however, apart, I am clearly of opinion that the translations hitherto published of the first stanza of the Kuhāon pillar inscription is wrong, and no argument therefore can be based on those erroneous renderings. Prinsep's Pandit misled him by putting in the Nāgari transcript a visarga after *śānte*, whereby it was converted into the genitive singular of the noun *śānti*, 'peace' or 'extinction',

and it was accordingly interpreted as qualifying the noun Skanda Gupta, which was also in the genitive case. The visarg, however, does not occur in the facsimile published by Prinsep, and therefore it should be at once rejected. Had it existed in the original, it should still have been rejected, for *śánti* is itself a noun, and cannot possibly be used as an adjective for another noun. Mr. Hall was the first to notice this mistake, and he correctly pointed out that the word as used in the text was in “the seventh case of a past participle.”¹ The late Dr. Bhau Dáji did the same a few years after, the former rendering it by “being quiescent,” the latter “peaceful.”² Both were, however, mistaken in accepting the word as qualifying the term *rájye*, as also in the meanings they assigned to it. Mr. Hall subsequently rejected his first version, and accepted the word to mean “being extinct,” but he still insisted on applying it to *rájye*, and the result therefore continued as unsatisfactory as before. The word stands just before *varshe*, and by the ordinary rule of Sanskrit construction it should be interpreted along with that which is proximate to it, and not taken over to *rájye*, which is removed from it by the intervention of several other words in a different case. Doubtless the exigencies of metre often lead to the reversion of the natural order or connexion of words in a sentence, but where both a distant and a near connexion are possible, the most appropriate course is to adopt that which is most natural, unless the context shows this to be inadmissible. This is the course which Sanskrit exegesis usually follow, and I see no reason to depart from it in explaining the stanza under notice. In it the words *śánte*, *varshe*, *trinś addaś aikottara-ś atatañe*, *jaishthási* and *prapanne* stand in regular succession, and I have no hesitation in taking

them to be intimately connected in sense. The meaning they together yield is “the year one hundred and forty-one having been over, and the month of Jaishṭhya having arrived,” or “on the close of the year one hundred and forty-one, the month of Jaishṭhya having arrived”, and this instead of being opposed to the context offers a much more natural and consistent sense than the version given by Mr. Hall.

To Europeans it might appear strange that the passed year should be named in the record, and not the current one to which the month specified belonged. But there is no inconsistency in this. In Bengal the usual practice to this day is to write in horoscopes the past year, and not the current one : thus were a child to be born at this moment (ten minutes past eleven A. M. of the 3rd of February, 1875, assuming that the Christian era is used and the day begins with sunrise at 6 A.M.), his date would be given in these figures: 1874, 1, 2, 5, 9, 59, *i.e.*, born on the lapse of fifty-nine seconds, nine minutes, five hours, two days, one month, and one thousand eight hundred and seventy-four years of the Christian era. Logically, this is the most precise way of putting the figures, and to leave no room for doubt, the figures are usually preceded by the words *śaka nripateratitábdádayah*, “the Śaka king’s past year, &c.” That this principle has been adopted in the inscription is evident from the use of the two participles *śánte* and *prapanne* together. The word *rájye* in the inscription is in the locative case, showing the locale of the occurrence, whereas *śánte* and *prapanne* are in the locative case-absolute according to the rule of Páṇini which says “that which through its own verb governs another takes the locative case.” For determining the tense of such cases-absolute, the great logician Gadádharma lays

down the following rule in his *dvítīyādivyutpatti-vāda* : “The relation of a verb in the seventh declension with another implies the same or some other time : Thereof the present participle affix (*krit*) implies the same time [*i.e.* the action of the two verbs takes place simultaneously). Where the participle affix is of the past tense, the time of the second verb is subsequent to that of the first; thus : on your going to the earth to conquer it, he attacked this city, &c. In the case of future participles the time of the first verb succeeds that of the other.”³ Applying this rule to the two participles of the stanza under notice, we have *śānte* preceding *prapanne*, and the “extinction” or close of the “year” (*varshe*) must take place before the “arrival” (*prapanne*) “of the month of Jaishṭhya.” If we take *śānte* to refer to *rājye* the meaning would be “the kingdom having become extinct and the month of Jaishṭhya arriving,” leaving the *varshe* grammatically unconnected with the rest, or serving as a locative, which is absurd.

As the verse in question has proved a stumbling-block to many, and is of great importance in connexion with the history of the Guptas, I shall here reproduce Mr. Hall’s reading and translation modified according to the above remarks.

यस्योपस्थानभूकिनृपतिशतशिरः पातवातावधूता
गुप्तामां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वेकमर्द्धे ।
राज्ये शूक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेःस्कन्दगुप्तस्य शान्ते
वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकशततमे ज्येष्ठमासि प्रपन्ने ।

“In the empire of Skanda Gupta, -the floor of whose audience chamber is swept by gusts from the bowing of heads of kings by hundreds; who is sprung from the line of the Guptas; of wide extended fame; opulent beyond all *others*; comparable with Śakra; lord of hundreds of monarchs; -the

year one hundred and forty-one having passed away, and the month of Jaishṭhya arriving," &c.

It might be said that as the words *bhukti* and *bhukta* in the two inscriptions of King Hastin⁴ are connected with the word *rājya*, the same should be inferred in the case of the Kuháon record. But the circumstances under which the words occur are not the same, nor even similar. In the Kuháon moument the *sánte* stands as a participle distinct by itself, whereas in the Hastin records *bhukti* and *bhukta* are members of compound terms of which *rājya* forms only a subordinate member; and as participle adjectives they further qualify the word *samvatsara* the counterpart of the Kuháon *varsha* and not *rājya*, and therefore they rather support my inference than oppose it. *Gupta-nripa-rājya-bhuktau* and *Gupta-nripa-rājya-bhukte* simply mean "during the dominancy of the Gupta kings;" for according to the usually received interpretation *bhoga*, when referring to years, implies its currency. Hastin evidently was a vassl of the Guptas and he satisfied himself with the title of Mahárájá, whereas the Guptas always claimed to be mahárájádhirája and therefore there is no inconsistency in his avowing the supremacy. Mr. Fergusson may take exception to this, as in his scheme of Indian chronology he accpets the title Mahárájá to be synonymous with emperor, and those who bore it to have been independent sovereigns; but with scores of Mahárájás who bow to the supremacy of our gracious sovereign Queen Victoria, and many of whom are not better than mere zamīndárs, none who is familiar with the history of India and of the ultra regal titles of the innumerable potentates who owned allegiance to the Pándus, will be disposed to follows his lead.

Accepting the above arguments as correct, it is impossible to avoid the conclusion that Skanda Gupta was a reigning sovereign when the Kuháon monument was put up, *i. e.* in the month of Jaishṭhya following the year 141, or the second month of 142; and as he could not under any human probability extend his reign to one hundred and forty-six years, the conclusion becomes inevitable that the year of his reign refers to some, at the time, well-known era which needed no special specification. To say that the eras of the Kuháon and the Indor monuments are different, and that consequently the one hundred and forty-one years of the former was calculated from a different starting point to that of the latter, would be a mere assertion quite unsupported by proof, and opposed to every legitimate argument.

According to Abú Raihán the *Gupta-kála* reckons from the years 241 of the Śaka era = A. C. 319, and if this could be accepted as correct, and we could assume that the era fo the inscription under notice was the Gupta-kála, its date would be A. C. 465; but as Abú Raihán's statement as preserved for us is hopelessly corrupt, and there is not a scintilla of proof to show that the Guptas used the so-called Gupta era, this assumption cannot be taken for granted. I am not disposed to reject altogether the statement of Abú Raihán, for however corrupt the passage, the fact of the Gupta and the Ballabhi eras being the same may be correct. Seeing that the Gupta era was current only over a small area in the Western Presidency, and that during the supremacy of the Ballabhi kings, the idea strikes me that the Ballabhi kings, having expelled the Guptas from Gujarát, started an era to commemorate the event, just as Śakáditya had done two hundred and forty-one years be-

fore them after expelling the Śakas from northern India, and the era was optionally called Ballabhi or Gupta. And as Abú Raihán gathered his information in Western India, he was right in saying that the era dated from the extinction of the Guptas, meaning their expulsion from Gujarát, without implying their total annihilation. This theory affords a very plausible solution of the question; but I must leave it aside for further research; the more so as two such distinguished Indian archaeologists as General Cunningham and Mr. Thomas are engaged in discussion on the subject, and it is quite unnecessary for me to join issue with either of the disputants. I need here only observe that my own conviction is that the era of the Chandra Gupta inscriptions of Sánchī, of the Skanda Gupta inscriptions of Júnágarh, Kuháon, and Indor, of the Budha Gupta inscription of Eran, and of the Hastin inscriptions, are all dated in the Śaka era which being current and well known, needed no special specification, and is accordingly indicated by the word *Samvatsara*, which means “a year” and not an era, as it has been erroneously supposed by some. The aptote noun *samvat* also originally meant a year; but it has been so uniformly used in connexion with the era of Vikramáditya, that the secondary meaning must now be accepted as the right one. When the abbreviation सं occurs in an inscription, it may mean the *samvat* or *Samvatsara*, and therefore it would be unsafe to take it for *samvat* for certain. There are many unquestionable instances in which it has been used for other than the *Samvat*. Under this conviction I accept the record under notice to be sixteen hundred and fifty years old, or, in other words, to date

from 224 of the Christian era, and that Skanda Gupta was then a reigning sovereign, whose sway extended from Gujarat to Anupshahar on the Ganges.

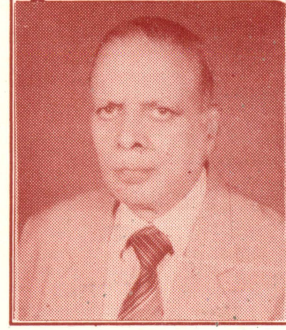
-
1. Journal, American Oriental Society, VI., p. 530.
 2. Journal, Bombay As. Soc., VIII, p. 241.
 3. सप्तम्याथ समानकालीनत्वादिकं क्रियान्तरसम्बन्धः त एव वर्तमानार्थकृतप्रत्ययस्थलं समानकालीनत्वं सम्बन्धतया । अतीतार्थकृतप्रत्ययसमभिव्याहारस्थले उत्तरकालीनत्व यथा त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत् सपुरीमिभामित्यादौ । भविष्यदर्थकृतप्रत्ययसमभिव्याहारस्थले च पूर्वकालीनत्वं यथा दोग्धव्यासु गत इत्यादौ इत्यादिकं स्वयमूहनीयं ॥
 4. Ante XXX, pp. 6 and 10. General Cunningham informs me that he has another inscription of king Hastin, and one of his son, in which the word *bhukti* occurs under identically the same circumstances, bu I have not but seen them.

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठांक	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
६	क्र. सं. ५	१२	१३
	क्र. सं. १० (३)	२३	२४
७	क्र. सं. १६ पहली लाइन	२	१
	क्र. सं. १८ पहली लाइन	७	८
११	३ (६) अन्तिम लाइन	६	११
१२	(८) दूसरी लाइन	८	७
१७	प्रथम पैरा अन्तिम लाइन	श्रा,	श्री
१८	दूसरे पैरा की दूसरी लाइन	होती	होता
१९	छठीं लाइन	परिशिष्ट-	परिशिष्ट ५
२६	नीचे से आठवीं लाइन	आदिनाद	आदिनाथ
	नीचे से सातवीं लाइन	पहचानें	पहचानी

लेखक का परिचय

नाम - सत्येन्द्र मोहन जैन
पिता-माता - चौधरी प्रकाश चन्द्र , जैनमती जैन
निवासी - सुलतानपुर-चिलकाना, जिला-सहारनपुर
जन्म दिनांक - 24 मार्च 1935
शिक्षा - बी.एस.सी., बी.इ.(सिविल), एम.इ.
 (हाईवेज), फेलो युनाइटेड राइटर्स
 एसोसिएशन ।



सेवा निवृत्ति - अधिशासी अभियन्ता, लो.नि.वि., यू.पी.

कार्यरत रहे - प्रोजेक्ट मैनेजर, यू.पी. राजकीय निर्माण निगम लि.

प्रोजेक्ट इंजिनियर, एन.डब्ल्यू.टी.एफ.पी., आई. आई. टी., कानपुर

लेखनी 1. 'जैनधर्म में योगनी', अप्रैल 1996, लेख 'राष्ट्रीय सैमिनार डाइमेन्सस ऑफ यान्त्रिक/आगमिक फिलॉसफी' में ।

2. पुस्तक 'दिगम्बर जैन' श्री पार्श्वनाथ जन्मभूमि मन्दिर, भेलूपुर, वाराणसी का ऐतिहासिक परिचय', वाराणसी, दिसम्बर 1999

3. लेख-उपरोक्त के तारतम्य में-'पार्श्वनाथ क्री जन्मस्थली के इतिहास पर कुछ और विचार' । पुस्तक जिसमें छपा-'भारतीय संस्कृति और साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ', वाराणसी, 1999

4. लेख 'सारनाथ की जैन परम्परा एवं वस्तु स्थिति', 'ज्ञान-प्रवाह' वाराणसी के सेमिनार में पढ़ा, वर्ष 2000, व वहाँ छपा । इस प्रकार सारनाथ संग्रहालय में 'जैन सेक्शन' बनाने की पृष्ठ-भूमि बनी ।

5. लेख 'जैनधर्म में मंत्र-तंत्र-यंत्र', वाराणसी 2005, बालाचार्य योगेन्द्र सागर के सान्निध्य में इस विषय पर हुई संगोष्ठी का प्रारम्भिक भाषण ।

अन्य कार्य क्षेत्र-

1. वास्तुशास्त्र व मंदिर-निर्माण का वास्तुशास्त्र ।
2. पुरातत्त्व-'पार्श्वनाथ विद्यापीठ' करौंदी, वाराणसी के पुरातत्त्व संग्रहालय में एक सेक्शन अपनी संग्रह से बनाया एवं वहाँ के नियामक पद पर सुशोभित ।
3. समाज सेवा-सम्भागीय अध्यक्ष, दिगम्बर जैन महासमिति, वाराणसी सम्भाग ।
4. मंझवा, मिर्जापुर के जैन मन्दिर के पुनः निर्माण में अहम् भूमिका ।